



## शिक्षा का मौलिक अधिकार और बालिकाएं

◆ दिशा पाराशर

राष्ट्रीय महिला आयोग की कुछ सदस्याओं ने देश में किशोरियों की समस्याओं का यथार्थ एवं विस्तृत आकलन कर उन्हें शोषण से बचाने की जरूरत नये सिरे से रेखांकित की है, इसमें कोई संदेह नहीं कि बच्चियों और किशोरियों में शिक्षा के भारी अभाव को देखते हुये यह विशेष रूप से सुनिश्चित करना होगा कि उनके कल्याण से संबंधित हर योजना का शत-प्रतिशत लक्ष्य प्राप्त हो। हमारी सदियों पुरानी सभ्यता और संस्कृति के लिये इससे बड़ा कलंक कोई और हो नहीं सकता कि हमारे उपवन की कलियों को खुलकर फूलने व फलने की आजादी नहीं है।

बारह वर्ष से सत्रह वर्ष तक की उम्र की लड़कियाँ किशोरी कही जाती हों, जिसे अंग्रेजी में 'टीन-ऐज' कहा जाता है। महिलाओं के अधिकार, सम्मान, स्वाभिमान, स्वावलम्बन की तो बहुत चर्चा की जाती है किन्तु किशोरियों से जुड़ी समस्याओं पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता है, उन्हें समाज व परिवारों के शोषण व उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने के संबंध में कुछ गतिशील निर्णय जरूर लिये जा चुके हैं किन्तु उनके क्रियान्वयन की रफ्तार काफी धीमी है।

किशोरियों की समस्या भारत में अत्यंत ही भयावह है। लड़की का जन्म ही जिस समाज में एक प्रकार का अपशकुन हो, वहां क्या बच्ची, क्या किशोरी और क्या युवती? भारत में प्रतिवर्ष 120 करोड़ लड़कियाँ पैदा होती हैं, जिनमें से लगभग 30 लाख लड़कियाँ किशोरी उम्र में आते-आते दम तोड़ देती हैं। प्रतिवर्ष 45 लाख लड़कियों की शादी होती है, उनमें से लगभग 75 प्रतिशत लड़कियों की उम्र 11 से 18 वर्ष के बीच होती है।

भारत की औसत किशोरी आयु 16.7 है जबकि मध्यप्रदेश में यह 16.6 प्रतिशत है।

विवाह कानून के बावजूद स्थिति यह है कि बिहार, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में सर्वाधिक किशोरी विवाह होते हैं। शासन और स्वयं सेवी संगठनों के हस्तक्षेप से कुछ बाल विवाह रोके तो जाते हैं मगर किशोरियों के विवाह इस कारण नहीं रुक पाते कि माता-पिता उनकी झूठी उम्र बताकर कानून के शिकंजे से बच जाते हैं।

समाज आज जिस अभिशप्त रूप में है उसे देखते हुये अधिकांश कम पढ़े-लिखे माता-पिता यह चाहते हैं कि बेटी की सुरक्षा का दायित्व जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी पिता के घर से प्रति के घर स्थानांतरित कर दिया जाये। किशोरियों की एक बड़ी संख्या, विशेषकर ग्रामीण एवं आदिवासी क्षेत्र में या तो निरक्षर है या स्कूल छोड़ प्रवृत्ति की शिकार है। आर्थिक विपन्नता परिवारों को बाध्य करती है कि उनकी बेटियां बालपन से ही कमाने लगे और पारिवारिक आमदनी का जरिये बनें, इसलिये जहां ग्रामीण किशोरियां खेती, मजदूरी, ईंधन, पानी, चारा और जंगली उपज संग्रहण का काम करके कुछ पैसे कमाती है वहीं शहरी निर्धन व पिछड़े वर्ग की किशोरियां घरेलू नौकरानी, बाल-बच्चे रखने या खतरनाक उद्योगों में काम करती हैं। इस तरह की किशोरियां जब कमाने के लिये मजबूर होती हैं तो उनमें से कुछ यौन उत्पीड़न और यौन शोषण का शिकार भी हो जाती हैं।

देश में सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाओं की टूटन के कारण हाल के वर्षों में इस बुराई ने भयावह रूप ले लिया है तथा इसी के साथ ही बलात्कार व गर्भपात की



घटनायें भी काफी बढ़ी हैं। कुछ जातियां तो ऐसी हैं, जहां पारम्परिक रूप से किशोरियों को वैश्यावृत्ति में धकेल दिया जाता है या मां-बाप स्वयं अपनी बेटियों को बेच देते हैं। पिछले कुछ वर्षों से तो हैदराबाद, बंबई, केरल के तटीय क्षेत्र गुजरात व राजस्थान के सीमावर्ती क्षेत्रों से किशोरियों के अवैध व्यापार तक होने लगे हैं। वे खाड़ी देशों को गुपचुप भेज दी जाती हैं।

शिक्षा को इन सभी समस्याओं का रामबाण माना जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जहां भी स्त्री शिक्षा को समुचित महत्व और प्राथमिकता दी गई है, अच्छे परिणाम सामने आये हैं। लेकिन बदलते समय और समाज के अनुरूप शिक्षा के स्वरूप व शैली में परिवर्तन आवश्यक है। जो शिक्षा रोजगार का बेहतर विकल्प नहीं दे सकती, सामाजिक सुरक्षा नहीं दे सकती, नारी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती वह किशोरियों के क्या काम की? इसलिये इनके संत्रास को लेकर चिंतित और संवेदित होने वालों को इस ओर भी सोचना

होगा कि वे शिक्षा को नारी मुक्ति और प्रगति से एक प्रभावी व उपयोगी औजार में किस तरह बदलें? इसे लेकर जो भी कार्य योजना बने उस पर द्रुतगति से अमल भी हो।

हमारे देश में वर्षों से हर सरकारी योजना का कंधा पंचायत और आंगनबाड़ी है। निरोध बांटने हों, कॉपर-टी के लिये महिलाओं को जुटाना, महिला उत्थान से जुड़े कार्यक्रमों का लक्ष्य पूरा करना हो, पोलियों ड्राप दिलवाना हो, अर्थात् ए से जेड तक हर काम इनके जिम्मे कर रखा है। 'इस ओवर वर्क के बावजूद आंगनबाड़ी कार्यकर्ताओं को मिलने वाला मेहनताना बहुत ही कम है। वे सिर्फ ड्यूटी के लिये काम करती हैं, अगर लक्ष्य निर्धारित किये गये तो माता-पिता जबरन थोड़े दिनों के लिये बालिकाओं को स्कूल भेज देंगे। लेकिन नियमित तौर पर भेजेंगे, इसमें आशंका है।

साभार : 'नवभारत' 24-2-2010





## ऐसे बदलें शिक्षा का चेहरा

◆ आर एन भास्कर

हमारे यहां बच्चों की बढ़ती संख्या के अनुपात में अच्छे स्कूलों का नितांत अभाव है। एक अनुमान के अनुसार यदि छात्र-शिक्षक अनुपात को संतोषजनक स्तर पर बरकरार रखना है तो हमें कम से कम तीन गुना अधिक स्कूल चाहिए। इसमें कोई दो राय नहीं है कि सरकार के पास इतना पैसा नहीं है कि वह सभी स्कूलों को वित्तीय सहायता दे सके। स्कूलों को वित्तीय दृष्टि से स्वयं सक्षम होना होगा।

**कें**द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री कपिल सिब्बल भी हमारे प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के नक्शेकदम पर चल रहे हैं। सिब्बल के पास नेहरू के जैसा ही विजन है, नेहरू के समान ही एक सपना है। लेकिन दुर्भाग्य से नेहरू के समान ही सिब्बल भी प्राथमिक शिक्षा की तुलना में उच्च शिक्षा को ज्यादा महत्व दे रहे हैं। सवाल है कि दस साल की सड़ी-गली शिक्षा से जो नुकसान हो चुका होगा, क्या उसकी खानापूर्ति चार-पांच साल की कॉलेज शिक्षा से की जा सकती है?

विभिन्न अध्ययनों व सर्वे से एक बात सामने आई है कि बिहार के प्राथमिक स्कूलों के बच्चों का

प्रदर्शन महाराष्ट्र, गुजरात या मध्यप्रदेश के स्कूली बच्चों से बेहतर रहा है। इसकी एक वजह यह हो सकती है कि बिहार में रोजगार के वैकल्पिक साधन उपलब्ध नहीं होने से अच्छे शिक्षक स्कूलों में ही बने रहे, जबकि भारत के अनेक राज्यों में कई अच्छे शिक्षकों ने स्कूल छोड़ दिए। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि आईआईटी और आईएएस पास करने वालों में एक बड़ी संख्या बिहार के विद्यार्थियों की होती है। यदि स्कूली पढ़ाई अच्छी है तो इसके बाद की सारी शिक्षा अच्छी रहेगी।

यदि शिक्षक स्कूल छोड़ने लगें तो क्या किया जाना चाहिए? इसका सीधा सा जवाब है शिक्षा के पेशे को अन्य पेशों से अधिक आकर्षक बनाना। अधिकांश शिक्षकों ने पूर्वकालिक पेशे के रूप में शिक्षण कार्य को जिन वजहों से छोड़ा है, वे हैं; काफी कम वेतन, बदतर विद्यार्थी-शिक्षक अनुपात जिससे शिक्षक छात्रों पर व्यक्तिगत ध्यान नहीं दे पाते हैं, शिक्षकों के खिलाफ बढ़ती हिंसा, गैर शिक्षण कार्यों जैसे चुनाव ड्यूटी और जनगणना इत्यादि का बोझ, पेशे की मर्यादा कम होना। बदकिस्मती से आखिरी कारण अक्सर पहले चार कारणों की परिणति होता है। कम वेतन, शिक्षकों के खिलाफ बढ़ती हिंसा और राजनीतिक दखल की वजह से अच्छी प्रतिभाएं शिक्षा के पेशे को छोड़कर जा रही हैं।

इसलिए इस बात में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि कैट, आईआईटी-जी या मेडिकल प्रवेश परीक्षाओं में सफल होने वाले अधिकांश बच्चे उच्च मध्यमवर्गीय परिवारों के होते हैं, जो निजी शिक्षा को वहन कर सकते



हैं। इनमें अनेक बच्चे ऐसे परिवारों के होते हैं जिनके माता-पिता दिनों शिक्षित होते हैं जिनके माता-पिता दोनों शिक्षित होते हैं और वे अपने बच्चों को घर पर भी पढ़ाते हैं। इस प्रकार बहुत ही सामान्य परिवारों से आने वाले वे बच्चे जो केवल हमारे स्कूली सिस्टम पर निर्भर होते हैं, प्रायः प्रतियोगी परीक्षाओं में अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाते, केवल कुछ बहुत ही विलक्षण प्रतिभाओं को छोड़कर।

यहां कुछ कार्य तत्काल किए जाने की जरूरत है। मैं इस सिलसिले में पांच सिफारिशें पेश कर रहा हूँ।

**सिफारिश 1 :** शिक्षकों को खुली प्रतिस्पर्धा की अनुमति दी जानी चाहिए, जिसमें वे उसी तरह वेतन के लिए मोल-भाव कर सकें, जिस तरह निजी क्षेत्र में करते हैं। यह साफ है कि सरकार से स्कूलों के बढ़े वेतन बिल के भुगतान की उम्मीद नहीं की जा सकती। इसलिए सरकार को स्कूलों को अपने संसाधन जुटाने की अनुमति दे देनी चाहिए।

**सिफारिश 2 :** स्कूलों को ज्यादा फीस लेने कमी अनुमति दी चाहिए ताकि वे वेतन और अन्य खर्चों को वहन कर सकें। लेकिन यहां सवाल उठेगा कि इससे स्कूलों के प्रबंधन शिक्षा से लाभ कमाने को प्रेरित नहीं होंगे? हां, लेकिन क्या चैरिटेबल अस्पतालों के प्रबंधन भी मेडिकल बीमा से मुनाफाखोरी नहीं करते? एक शर्त यह रखी जा सकती है कि उच्च फीस वसूलने वाले स्कूलों के बच्चों को हर दो साल में एक बार अंग्रेजी, गणित और विज्ञान विषयों में केन्द्र संचालित परीक्षा से गुजरना होगा और इनमें से 90 फीसदी बच्चों को यह परीक्षा पास करना जरूरी होगा। यदि 10 फीसदी से अधिक बच्चे फेल हो जाते हैं तो स्कूल के मौजूदा प्रबंधकों को स्कूल प्रबंधन से हटा दिया जाएगा। ऐसे स्कूलों का प्रबंधन उनके हाथों में सौंप दिया जाएगा, जो

अपने विद्यार्थियों को बेहतर ढंग से शिक्षित कर रहे होंगे। प्रबंधन से हाथ धोने के डर से स्कूलों के प्रबंधक अच्छे शिक्षक रखेंगे, शिक्षा का समुचित परिवेश का निर्माण करेंगे और यह सुनिश्चित करेंगे कि शिक्षक व विद्यार्थी मिलकर काम करें। इससे विद्यार्थी-शिक्षक अनुपात बेहतर होगा, बच्चों पर अच्छी तरह से ध्यान दिया जा सकेगा और इस तरह अच्छी शिक्षा मिल सकेगी।

**सिफारिश 3 :** उच्च फीस का सीधा संबंध विद्यार्थी के प्रदर्शन से होगा। विद्यार्थियों के प्रदर्शन को बरकरार नहीं रख पाने की स्थिति में स्कूल के प्रबंधक बदल दिए जाएंगे। इससे कुछ हलकों में यह भय भी पैदा हो जाएगा कि कहीं शिक्षा धनवानों का ही तो विशेषाधिकार नहीं बन जाएगा और क्या वही बच्चे अच्छे स्कूल जा पाएंगे, जिनके अभिभावक ज्यादा फीस वहन कर सकेंगे? इसका जवाब अगली सिफारिश में मिलेगा।

**सिफारिश 4 :** सब्सिडी की व्यवस्था लागू की जा सकती है। वह व्यवस्था ऐसी होगी कि इसमें 30 फीसदी योग्य छात्रों को कम फीस देनी होगी जिनका खर्च धनवान परिवारों के बच्चों की फीस से वहन किया जाएगा। यदि कोई गरीब बच्चा अकादमिक अध्ययन के लिए योग्य नहीं पाया जाता है तो उसे स्कूल में भर्ती होने के बजाय वोकेशनल सेंटर में शामिल होने को कहा जा सकता है।

अब हम सबसे बड़ी बाधा पर पहुंच गए हैं और वह यह है कि हमारे यहां बच्चों की बढ़ती संख्या के अनुपात में अच्छे स्कूलों का नितांत अभाव है एक अनुमान के अनुसार यदि छात्र-शिक्षक अनुपात को संतोषजनक स्तर पर बरकरार रखना है तो हमें कम से कम तीन गुना अधिक स्कूल चाहिए। इसमें कोई दो राय नहीं है कि सरकार के पास इतना पैसा नहीं है कि वह सभी स्कूलों



को वित्तीय सहायता दे सके। स्कूलों को वित्तीय दृष्टि से स्वयं सक्षम होना होगा। चूंकि शिक्षा राज्यों का विषय है, इसलिए राष्ट्रीय नीति लागू करने के लिए वित्तीय महातंत्र ही एक तार्किक समाधान होगा। वित्तीय लाभ अर्जित करने के लिए स्कूलों के प्रबंधन को निश्चित मानकों का पालन करना होगा। हालांकि प्रबंधन के अनुमोदन का अधिकार राज्यों के पास ही होगा, वित्तीय इंसेटिव और संबंधित शर्तों को लागू करने की जिम्मेदारी केंद्र की होगी। यदि स्कूल प्रबंधन विफल हो जाता है तो सारे वित्तीय लाभ उससे वापस लिए जा सकते हैं।

यदि मानकों में पारदर्शिता होगी तो हम शिक्षा में क्रांतिकारी बदलाव ला सकते हैं। इससे यह भी सुनिश्चित हो सकेगा कि दसवीं की परीक्षा केवल योग्य परीक्षार्थी ही उत्तीर्ण कर सकें ताकि कॉलेजों पर उन विद्यार्थियों का दबाव कम हो सके, जिनकी अकादमिक दक्षता हासिल करने में कोई विशेष रुचि नहीं है। इससे कॉलेज राजनीति की उर्वरा जमीन बनने से भी बच सकेंगे।

**सिफारिश 5:** ऐवी वित्तीय नीति बनाना जो नए स्कूलों में भारी निवेश को प्रोत्साहित करें।

लेखक शिक्षाविद एवं पत्रकार हैं।

साभार : 'दैनिक भास्कर' - 10.2.2010





## ताकि सब पढ़-लिख सकें

शिक्षा अधिकार कानून की राह में अनेक कांटे हैं, जिन्हें मिल-जुलकर हटाना होगा

◆ यामिनी अय्यर

**भारत** सरकार ने आधिकारिक रूप से शिक्षा का अधिकार कानून लागू कर दिया। इस कानून को लेकर दो ही दिन बाद राजनीतिक क्षेत्रों में हो-हल्ला शुरू हो गया, जब उत्तरप्रदेश की मुख्यमंत्री मायावती ने कहा कि कानून को अमल में लाने के लिए उनके पास धन का अभाव है। जल्द ही अन्य राज्य भी केंद्र सरकार के खिलाफ आ खड़े हुए कि बच्चों को शिक्षित करने के लिए उनके पास पैसा नहीं है। राज्यों की दलील है कि चूंकि यह केंद्र सरकार का कानून है, इसलिए इस पर आने वाली लागत का 90 फीसदी हिस्सा केंद्र दे, जबकि केंद्र का कहना है कि शिक्षा राज्यों का विषय है, इसलिए राज्यों को इसे प्राथमिकता पर रखना चाहिए। ऐसे में पूरे देश का ध्यान इस सवाल पर केंद्रित हो गया है कि राइट टू एजुकेशन (आरटीई) पर खर्च कौन करेगा। मुख्य चुनौती यह नहीं कि इस पर कितना धन खर्च होगा ओर कहा से आएगा, बल्कि यह है कि इसे खर्च कैसे किया जाएगा। क्या हमारे पास इस कानून को प्रभावी पारदर्शी तरीके से विश्वसनीयता के साथ लागू करने के लिए पर्याप्त तंत्र है? हम इसका प्रभावी क्रियान्वयन कैसे सुनिश्चित करेंगे?

इस कानून में शिक्षा की गुणवत्ता, स्कूलों की प्रबंधन समितियों को योजना बनाने के लिए मजबूत करने और स्कूल स्तर पर खर्च पर निगाह रखने समेत कई प्रावधान हैं, लेकिन यदि दक्षता के साथ इस पर अमल नहीं किया गया, तो वांछित फल नहीं मिल सकेंगे। सर्वशिक्षा अभियान को देखिए। यह योजना शिक्षा क्षेत्र में भारत सरकार की फ्लैगशिप योजना है। इसके लिए

बजट साल-दर-साल बढ़ता रहा है। एक देशव्यापी अध्ययन में पता चला कि योजना का दो-तिहाई धन वित्तीय वर्ष के अंतिम कुछ महीनों में खर्च किया जाता है। वर्ष 2008-09 के वित्तीय वर्ष की शुरुआत में सर्वशिक्षा अभियान के लिए 8,713 करोड़ रुपए थे, लेकिन साल के अंत तक उपलब्ध धन का मात्र 70 फीसदी ही खर्च किया जा सका।

एनुअल सर्वे ऑफ एजुकेशन (एएसईआर) की ताजा रिपोर्ट में कहा गया है कि वित्तीय वर्ष 2008-09 में केवल 75 फीसदी स्कूलों ने अनुदान मिलने की सूचना दी। वित्तीय वर्ष 2009-10 के अक्टूबर-दिसंबर के बीच जब सर्वे किया जा रहा था, तब तक 50 फीसदी से अधिक स्कूलों को अनुदान का कोई पैसा नहीं मिल सका था। इससे संकेत मिलता है कि फंड आने में देरी होती है और वह वित्तीय वर्ष के अंत तक पहुंच पाता है।

इस देरी के कई कारक हैं। इसमें प्रशासनिक पेचीदगी से लेकर प्रशासनिक सुस्ती तक है। मध्यप्रदेश के सीहोर जिले का एक रोचक उदाहरण है। यहां के कुछ स्कूलों में पैसा नवंबर के मध्य तक इस जवह से नहीं पहुंच सका था, क्योंकि राज्य सरकार अपनी व्यवस्था को इलेक्ट्रॉनिक कर रही थी, ताकि बटन पर सिर्फ एक क्लिक करने से ही धन स्थानांतरित किया जा सके। देरी का एक और उत्कृष्ट उदाहरण देखिए। स्थानीय बैंकों के पास सिर्फ चार अंकों वाली इलेक्ट्रॉनिक स्थानांतरण क्षमता थी, जबकि इस मद के धन को स्थानांतरित करने के लिए दस अंकों की जरूरत पड़ती थी। इस स्थिति से निपटने के लिए कोई वैकल्पिक उपाय नहीं किए गए थे



और धन आवंटन में देरी का खमियाजा स्कूलों को भुगतना पड़ा।

प्रशासनिक समस्याओं के अलावा पारदर्शिता के अभाव के चलते भी देरी होती है। अधिकांश सरकारी कार्यक्रमों की तरह फंड के बारे में भी जानकारी कभी-कभार आती है और अधिकांश में तो कभी मिल ही नहीं पाती है। आंकड़ों से संकेत मिले हैं कि फंड के ब्यौरे के बारे में कई स्कूलों के प्रधानाध्यापकों को भी कुछ मालूम नहीं होता है। जब वे इसकी और ज्यादा जानकारी करना चाहते हैं, तो जवाब देने वाले को भी कुछ पता नहीं होता। इतना ही नहीं, यदि प्रधानाध्यापकों को फंड के ब्यौरे के बारे में मालूम है भी, तो अभिभावक पूरी जानकारी से अनभिज्ञ ही रहते हैं। फंड की जरूरत और खर्च में भी विसंगतियां पाई जाती हैं। यदि एक स्कूल को मानसून के पहले टूटी छत की मरम्मत के लिए धन चाहिए, तो पैसा दिसंबर में आता है। नतीजतन फंड का या तो बेतरतीब इस्तेमाल किया जाता है या वह खर्च नहीं हो पाता है।

शिक्षा के अधिकार कानून में व्यवस्था है कि स्कूल प्रबंधन समितियां स्कूल या पंचायत के स्तर पर खर्च पर निगरानी रखेंगी और योजनाएं बनाएंगी। इन्हीं योजनाओं के आधार पर धन का आवंटन और खर्च का निर्धारण होगा, लेकिन जब फंड पहुंचेगा ही नहीं या देर से पहुंचेगा, तो उसे खर्च नहीं किया जा सकेगा, तो ऐसे में योजनाएं अप्रासंगिक हो जाएंगी और प्रबुद्ध नागरिक निरुत्साहित होंगे।

वर्तमान व्यवस्था में केंद्र व राज्य सरकारों द्वारा निर्धारित कड़े मानकों के चलते फंड को लेकर स्कूल अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करने में असमर्थ ही हैं। ये मापदंड स्कूलों को मिलने वाले धन के तंत्र को भी निर्धारित करते हैं। नतीजा यह होता है कि स्कूलों की जरूरतों और मिलने वाले धन का कोई तालमेल ही नहीं रह जाता। उदाहरण के लिए एक हजार विद्यार्थियों वाले स्कूल को केवल दो या ढाई गुना अधिक धन मिलता है अपेक्षाकृत उस स्कूल के जिसमें केवल सौ छात्र हैं। एक स्कूल जो अध्यापन सामग्री पर ज्यादा खर्च करना चाहता है, मापदंड उसे ऐसा करने की अनुमति नहीं देते हैं। इन समस्याओं का समाधान करने व शिक्षा की गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए शैक्षणिक शैली का खाका खींचकर उसे क्रियान्वित करना चाहिए। भारत सरकार और राज्य सरकारों को मिलकर समस्याओं पर विचार करना चाहिए।

शिक्षा का अधिकार कानून के तहत ज्यादा धन तो उपलब्ध कराया ही जाएगा, लेकिन अगर हम चाहते हैं कि धन को बेहतर ढंग से खर्च किया जाए, तो हमें पूरी दिलचस्पी के साथ इस पर ध्यान केंद्रित करना होगा, समस्याओं को सुलझाना होगा वरना अन्य अच्छी योजनाओं की तरह आरटीई भी अपने मूलभूत उद्देश्य से भटक जाएगा।

लेखिका सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च में एकाउंटेबिलिटी एनिसिएटिव की डायरेक्टर हैं

साभार : पत्रिका 2.7.2010





# संसाधनों के अभाव में तमाशा बनकर न रह जाए शिक्षा का अधिकार

◆ मस्तराम कपूर

भाषा शास्त्रियों का कहना है कि भाषा बच्चे का अस्तित्व है, जिससे वह अपने होने की घोषणा करता है। हम उससे उसकी भाषा छीनकर उस पर, विदेशी भाषा लादने जा रहे हैं।

**मा**नव संसाधन मंत्री कपिल सिब्बल ने शिक्षा का अधिकार कानून को मौलिक अधिकार बनाने वाले 86वें संविधान संशोधन के बाद एक अप्रैल 2010 से लागू कराने के काम को अपनी तथा कांग्रेस के नेतृत्व वाली यूपीए सरकार की सबसे बड़ी उपलब्धि बताया है। इस संबंध में पहली उल्लेखनीय बात तो यह है कि 86वें संविधान संशोधन की पहलकदमी अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली एनडीए सरकार ने की थी और उसका उद्देश्य था कि 14 साल तक के हर बच्चे को शिक्षित करने की जो जिम्मेवारी संविधान ने सरकारों पर डाल रखी थी, उससे सरकारों को मुक्त किया जाए और यह जिम्मेवारी मां-बाप पर डाली जाए। ऐसा करना इसलिए जरूरी था, क्योंकि बाजार की व्यवस्था के अंतर्गत सरकारें तो बस जैसे बाजार-व्यवस्था की संचालक बहुराष्ट्रीय कंपनियों की खिदमत के लिए हैं ओर उन्हें सब कामों से मुक्त होना चाहिए।

दूसरी बात यह कि शिक्षा के अधिकार का कानून

और बड़ा तमाशा है। यह एनजीओ व्यवस्था की, जो बहुराष्ट्रीय कंपनियों की व्यवस्था का ही एक अंग है, नई सूझ है कि हर प्रकार के जीने का अधिकार (शिक्षा का अधिकार भी जीने का अधिकार है) तभी किसी आदमी को मिलता है, जब राज्य कानून बनाकर उसे वह अधिकार देता है। यह सिद्धांत बड़े से बड़े तानाशाह और सर्वसत्तावादी बादशाह को भी शर्मिदा कर सकता है। इतना बड़ा दावा तो इतिहास में उन्होंने भी नहीं किया होगा, समुद्र को अपनी लहरें रोकने का आदेश देने वाले काल्पनिक राजा को छोड़कर। हमारे मानव संसाधन मंत्री इस राजा की भूमिका निभाते लग रहे हैं। उनका दावा है कि इन कानूनों के बन जाने के बाद अब हम हर बच्चे को शिक्षित करने का लक्ष्य पा लेंगे, जबकि आज भी हाईस्कूल पास कर कॉलेजों में जाने वाले छात्रों की संख्या शिक्षा मंत्री के एक बयान के अनुसार 12 प्रतिशत के करीब ही है। वैसे गैर सरकारी अनुमान तो और भी कम बताते हैं। 70-75 प्रतिशत बच्चे तो हाईस्कूल समाप्त होने से पहले ही स्कूल छोड़ देते हैं। यह भी कहा गया है कि शिक्षा का अधिकार मुफ्त ओर अनिवार्य शिक्षा से आगे जाता है। उसमें क्वालिटी एजुकेशन या गुणवत्तापूर्ण शिक्षा शामिल है। अगर गुणवत्ता नहीं, तो यह बच्चे को शिक्षा का अधिकार से वंचित रखना होगा। यह क्वालिटी कहां से आएगी? यह हर बच्चे को पहली कक्षा से अंग्रेजी पढ़ाकर आएगी। ज्ञान आयोग की यही सिफारिश है। इस देश में क्वालिटी और योग्यता की खान अंग्रेजी ही रही है। जो इसे सीख लेता है, वह सर्वगुण सम्पन्न बन जाता है। मनोवैज्ञानिकों और भाषा शास्त्रियों का कहना है कि भाषा बच्चे का अस्तित्व है, उसके माध्यम



से वह अपने होने की घोषणा करता है। हम उससे उसकी भाषा छीनकर उस पर एक अजनबी विदेशी भाषा लादेंगे। इस पर भी कहा गया है कि शिक्षा बच्चों की पसंद के वातावरण में (चाइल्ड फ्रेंडली) दी जाएगी, जिसमें बच्चा भय, तनाव या घबराहट के बिना शिक्षा ग्रहण कर सकेगा। यह कहते हुए इस बात को नजरअंदाज किया गया कि 70-80 प्रतिशत बच्चों द्वारा बीच में स्कूल छोड़ने और आधे से ज्यादा बच्चों के फेल होने का सबसे बड़ा कारण अंग्रेजी भाषा का खौफ है, फिर शत-प्रतिशत बच्चों को शिक्षित करने का लक्ष्य कैसे पूरा होगा? यह दावा भी किया गया है कि शिक्षा का अधिकार कानून को लागू कर शिक्षा में सर्वतोन्मुखी क्रांति लाई जाएगी, जो अब तक अपनाई गई शिक्षा-दृष्टियों को अपने में समेटते हुए सार्वजनिक शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करेगी।

अब तक अलग-अलग हित समूहों ने अलग-अलग दृष्टि अपनाई। प्रशासकों की प्राथमिकता

रही कि स्कूल ज्यादा से ज्यादा खूलें, उनमें अधिक से अधिक बच्चे दाखिल हों, स्कूल घर के निकट हों और वहां साज-सामान तथा शिक्षकों की अच्छी व्यवस्था हो। शिक्षा-शास्त्रियों की चिंता रही कि बच्चे बिना बोझ, भय और तनाव के शिक्षा ग्रहण कर सकें, पाठ्यक्रम इतना बोझिल न हो कि ट्यूशन केंद्रों की दुकानें फलें-फूलें। शिक्षा का अधिकार कानून के पीछे बहुराष्ट्रीय शिक्षा-माफियाओं की लॉबी का हाथ है, जो धुआंधार प्रचार कर रही हैं कि यह काम निजी उद्यमों द्वारा ही हो सकता है और सरकारों को इससे हाथ खींच लेने चाहिए। राज्य को शिक्षा के क्षेत्र से पूरी तरह बेदखल करने की योजना है। इस काम को अंजाम देने के लिए शिक्षामंत्री ने विदेशी शिक्षा संस्थान प्रवेश और क्रियान्वयन नियमन विधेयक को भी कैबिनेट से पास करा दिया है, जिसे विद्वान लोग उच्चशिक्षा के क्षेत्र का सेज (स्पेशल इकॉनॉमिक जोन) कह रहे हैं।

साभार : पीपुल्स समाचार 7-6-10





## प्रवासी कामगारों के श्रम अधिकार

◆ अलका आर्य

भारत दुनिया का ऐसा देश है, जहां प्रवासी कामगार अपनी सबसे ज्यादा कमाई भेजते हैं। उनके द्वारा भेजी गई विदेशी मुद्रा देश को आर्थिक रूप से ताकतवर बनाती है, और हमारे सामाजिक व आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है मगर वे वहां किस हालत में काम करते व रहते हैं, उन्हें सुधारने व उनके श्रम-अधिकार दिलाने के बाबत कोई ठोस कदम हमारी सरकार द्वारा आज तक नहीं उठाए गए।

**बी**ते दिनों दिल्ली में आयोजित आठवें प्रवासी भारतीय समारोह में केंद्र सरकार ने जहां प्रवासी भारतीयों को निवेश और कारोबार के लिहाज से लुभाने की हर संभव कोशिश की वहीं प्रवासी कामगारों की समस्याओं पर किसी प्रकार की चर्चा की जरूरत नहीं समझी। प्रधानमंत्री ने प्रवासी भारतीयों को मतदान के अधिकार के जरिए राजनीतिक प्रक्रिया से जुड़ने का भरोसा दिलाया और राष्ट्रपति ने प्रवासी भारतीयों से शिक्षा व स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों में निवेश की अपील की मगर विदेशों में काम करने वाले भारतीय कामगारों के लिए आव्रजन नीति कब तैयार होगी, इस पर कुछ नहीं कहा गया, जबकि सरकार ने दो साल पहले ऐसी नीति बनाने की घोषणा की थी।

विदेशों में करीब ढाई करोड़ प्रवासी भारतीय रहते हैं। इनमें उद्योगपति, व्यापारी और कुशल-अर्धकुशल-अकुशल कामगार शामिल है। इन ढाई करोड़ में अर्धकुशल और अकुशल कामगारों की तादाद बहुत बड़ी है वर्ष 2008-09 में प्रवासी भारतीयों ने करीब 52 अरब डॉलर

भारत में भेजे, जिसमें अर्धकुशल व अकुशल कामगारों का बहुत बड़ा योगदान है। यह भी याद रखना होगा कि भारत दुनिया का ऐसा देश है, जहां प्रवासी कामगार अपनी सबसे ज्यादा कमाई भेजते हैं। यह बचत सरकार को अधिक से अधिक लोगों को विदेश में काम करने के लिए भेजने के वास्ते प्रोत्साहित करती है ताकि देश में विदेशी मुद्रा के भंडार में इजाफा हो। उनके द्वारा भेजी गई विदेशी मुद्रा देश को आर्थिक रूप से ताकतवर बनाती है व हमारे सामाजिक और आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मगर वे वहां किन हालात में काम करते व रहते हैं, उन्हें सुधारने व उनके श्रम अधिकार दिलाने बाबत कोई ठोस कदम हमारी सरकार द्वारा आज तक नहीं उठाए गए।

गौरतलब है कि हर साल लाखों भारतीय विदेशों में काम के लिए जाते हैं। कुशल व तकनीकी लोग विकसित, पूंजीवादी देशों की ओर रुख करते हैं तो अर्धकुशल व अकुशल श्रमिक खाड़ी देशों व कुछेक अन्य देशों में जाते हैं। काम दिलाने वाले एंजेंट इन्हें असलियत से दूर रखते हुए विदेश भेज देते हैं और वहां उतरते ही इनकी कभी खत्म न होने वाली तकलीफों का सिलसिला शुरू होता है। तकरीबन 1600 एंजेंट अपने देश से लोगों को विदेश भेजने का काम करते हैं। यह सरकारी अनुमान है जबकि गैर-कानूनी तरीके से काम करने वाले एंजेंटों की संख्या इससे ज्यादा हो सकती है। यूं सरकार जालसाजी करने वाले एंजेंटों के प्रति कार्रवाई की बात करती रहती है मगर उसका अधिक सर कहीं नजर नहीं आता। भारत सरकार ने विदेशों की 310 कंपनियों को काली सूची में डाला था मगर इन कंपनियों ने नाम बदल लिए व गैरकानूनी काम जारी रखे। विदेशी नियोक्ता अपने गलत कामों, गैरकानूनी गतिविधियों को भारतीय एंजेंटों के सहयोग से जारी रखते हैं। इन एंजेंटों के खिलाफ व्यापक पैमाने पर कार्रवाई नहीं होती और जो होती भी है, वह सांकेतिक होती है। माना जा रहा है कि ऐसे एंजेंटों के कारण विभिन्न देशों की जेलों में



करीब 20 हजार भारतीय जिनमें पंजाबी ओर दक्षिण भारतीयों की तादाद काफी ज्यादा है, बंद हैं। बेशक विदेश मंत्रालय के अनुसार यह तादाद करीब 6500 है पर मंत्रालय यह भी स्वीकार करता है कि अधिकांश देशों ने अपनी जेलों में बंद ऐसे भारतीयों की सूची उसे पास दर्ज नहीं कराई है।

प्रवासी भारतीय कामगारों के हितों के लिए चिंतित ट्रेड यूनियनों ने भर्ती करने वाले धोखेबाज एजेंटों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई संबंधी कानूनी प्रावधान की मांग की है। खाड़ी देशों में अर्धकुशल व अकुशल कामगार अमानवीय परिस्थितियों में काम करते हैं। भारत की तुलना में अच्छी नौकरी व अच्छे वेतन की जगह उन्हें सस्ती मजदूरी वाले काम करने पड़ते हैं। नियोक्ता व भर्ती एजेंसियां उनके पासपोर्ट व जरूरी दस्तावेज जबरन अपने पास रख लेती हैं ताकि वे मजबूरन वहीं टिके रहें। यही नहीं, कुछ महीनों का वेतन भर्ती एजेंटों को दी गई फीस में कट जाता है तो कुछ वर्क परमिट की फीस की शकल में कट जाता है। कामगार आठ घंटे से ज्यादा काम करते हैं और उन्हें आवेरटाइम भी नहीं मिलता। मेडिकल सुविधा नहीं के बराबर हैं। नियोक्ता व भर्ती एजेंसियां रोजगार की परवाह तक नहीं करते। हाल में हबीब हुसैन नाम का व्यक्ति एयर इंडिया के जहाज में छिपकर मदीना से जयपुर पहुंचा और इस घटना ने सऊदी अरब में कामगारों के शोषण व दयनीय हालत को फिर जगजाहिर कर दिया।

घरेलू महिला कामगारों की हालत तो और भी बदतर है। उन्हें घर से बाहर निकलने की इजाजत नहीं होती। यौन उत्पीड़न व बलात्कार की खबरें भी सुनने को मिलती हैं। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का कहना है कि घरेलू कामगारों की स्थिति दूसरे कामगारों की तुलना में अधिक दयनीय होती है क्योंकि उनके काम का दायरा सार्वजनिक नहीं होता। इसके साथ ही अधिकतर घरेलू कामगार श्रम कानूनों के दायरे से बाहर हैं। खाड़ी देशों में जहां प्रवासी भारतीय कामगारों की तादाद बहुत ज्यादा है, वहां न तो मजदूरों के संरक्षण के लिए कोई नीति है और न ही वहां ट्रेड यूनियन

प्रवासी कामगारों के मुद्दों को उठाती हैं।

प्रवासी कामगारों के श्रम-संरक्षण अधिकारों बावत खाड़ी देशों की दलील है कि वे यहां अस्थाई हैं और ठेका प्रणाली के तहत काम करते हैं। सच्चाई यह है कि प्रवासी भारतीय कामगार बहुत बड़ी तादाद में जिन दिशों में काम करते हैं वहां श्रम संरक्षण के जरूरी उपाय गैर हाजिर हैं। यदि नियोक्ता श्रम कानूनों का उल्लंघन करता है तो कामगार को इसका विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है और इसके विपरीत कामगारों के धरने को भी गैरकानूनी गतिविधि माना जाता है। अगर कोई कामगार शिकायत भी करता है तो उसे देश से बाहर निकाल दिया जाता है।

ऐसा नहीं है कि भारत सरकार इन कामगारों की समस्याओं से वाकिफ नहीं है। इनके समाधान के लिए दो साल पहले सरकार ने आब्रजन नीति बनाने की घोषणा भी की थी लेकिन आज तक वह तैयार नहीं हुई है। प्रवासी भारतीय कामगारों की समस्याओं व हितों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर काम करने वाली ट्रेड यूनियने व गैर-सरकारी संगठन सरकार की इस नीति के प्रति उदासीनता को लेकर खफा हैं। उनकी राय में सरकार को यह नीति बनाते वक्त लोकतांत्रिक प्रक्रिया अपनानी चाहिए। इस नीति में भारत की पहचान सिर्फ प्रवासी भेजेन वाले देश के रूप में नहीं होनी चाहिए बल्कि यहां दूसरे देशों से भी प्रवासी आने चाहिए। नीति में कामगारों के हित संबंधी श्रम अधिकारों के संरक्षण पर बल दिया जाए औरबंदी बनाए गए प्रवासी भारतीयों की समस्या को भी नीति में उचित जगह मिलनी चाहिए। सवाल यह है कि अपनी सरकार की चिंता प्रवासी भारतीयों को निवेश के लिए लुभाने को लेकर है ना कि अंतर्राष्ट्रीय आब्रजन के दौर में अर्धकुशल व अकुशल कामगारों के उचित हित। अपने परिवार नहीं, बल्कि पूरे अर्थतंत्र के लिए गुलामी कर रहे ऐसे लाखों कामगारों को कानूनी अधिकारों के जरिए सशक्त बनाने व गरिमापूर्ण जिंदगी देने के लिए ठोस पहल की दरकार है।

साभार : राष्ट्रीय सहारा - 9-2-10





## कहां हैं मजदूरों के अधिकार?

◆ विनीत तिवारी

संगठित क्षेत्रों के कर्मचारियों-श्रमिकों ने लंबे संघर्षों के बाद जो हक-अधिकार हासिल किए थे, वो भी उनसे छीने जा रहे हैं। बैंक, बीमा का क्षेत्र हो या बड़े उद्योगों का, सभी जगह मुनाफा बढ़ाने के लिए आरी कर्मचारियों और मजदूरों के हितों पर ही चलाई जा रही हैं पूंजीवाद-साम्राज्यवाद की चाकरी करने के लिए संगठित मजदूर संघर्ष को तोड़ने में खुद सरकार भी कल्याणकारी होने का नकाब उतार मजदूर विरोधी भूमिका में आ गई है।

रोजगार बचाने की, संघर्षों से हासिल हुए हकों को बचाने की ये लड़ाई आज हर क्षेत्र के मजदूरों-कर्मचारियों के लिए बड़ी चुनौती बन गई है। असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के प्रति तो बाजार का रवैया और भी भयानक होता है। बीड़ी बनाने वाले, लघु उद्योगों में काम करने वाले, घरेलू कामकाज करने वाले, ठेला चलाने वाले, हम्माली करने वाले या इसी तरह के तमाम छोटे-बड़े कामों में दिन-रात पसीना बहाकर किसी तरह पेट पालने का जतन करते मजदूरों को रोजगार सुरक्षा और स्वास्थ्य-शिक्षा की सुविधाएँ देना तो दूर, उल्टे उनके मुंह का निवाला भी छीना जा रहा है। खेती की हालत तो इससे भी ज्यादा खराब है। भूमिहीन मजदूरों और छोटे किसानों को जिन्दा रहने के लिए अधिकतर घर-परिवार छोड़कर पलायन करना पड़ता है और औनी-पौनी मजदूरी पर काम करके जीवन चलाना होता है। छोटे और मझोले किसानों के लिए भी खेती लगातार मंहगी और मुश्किल होती जा रही है। सरकार खुद मान चुकी है कि पिछले बरसों में लाख से ज्यादा किसान आत्महत्या कर चुके हैं। इसके बावजूद देश में अरबपति बढ़ रहे हैं, कई कंपनियों का मुनाफा भी बढ़ रहा है,

खिलाड़ियों की नीलामी वाला अरबों का आईपीएल क्रिकेट बढ़ रहा है, लेकिन रोजगार नहीं बढ़ रहा। दो साल पहले अमेरिका के राष्ट्रपति ने कहा था कि दुनिया में अनाज की कमी इसलिए आ रही है, क्योंकि भारत और चीन के लोग ज्यादा खाने लगे हैं। इसी तर्ज पर कुछ और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने कहा है कि भारत के लोग जरूरत से ज्यादा खाते हैं। इस पर हमारी सरकार ये विचार कर रही है कि अभी गरीबों को जो थोड़ा-बहुत अनाज राशन की दुकानों से मिल जाता है, उसमें और कमी कर दी जाए।

एक तरफ सरकार बड़ी-बड़ी देशी-विदेशी कंपनियों को उड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, मध्यप्रदेश सहित पूरे देश में कहीं भी आने और प्राकृतिक संपदा से लेकर, मजदूरों के शोषण के लिए न्यौता दे रही है और दूसरी तरफ गरीबों से उनकी नमक रोटी भी छीन रही है। अपना हक मांगने वाले किसानों, मजदूरों, कथित विकास परियोजनाओं के विस्थापितों-पीड़ितों, आदिवासियों व दलितों-शोषितों के बजाय सरकार की चिंता ये है कि विदेशी कंपनी के बीटी बैंगन व अमेरिका के फायदे के परमाणु समझौते की रुकावटें किसी तरह दूर हों। दुनिया सब कुछ हड़प लेने की हवस में साम्राज्यवाद-पूंजीवाद न केवल मजदूरों के हक-अधिकारों को खत्म करना चाहता है। क्या आपने सोचा है कि पिछले वक्त में जो मंहगाई बढ़ी और जरूरी चीजों के दाम भी आसमान छूने लगे तो उसकी क्या वजह थी? क्या कारखानों, खेतों में काम करने वाले मजदूरों ने मेहनत करनी कम कर दी थी? या कोई भयानक अकाल, बाढ़ या कौन सी तबाही सारी दुनिया में आ गई थी जिसकी वजह से सब कुछ तहस-नहस हो



गया था? लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ था। सारी दुनिया के मजदूर पहले की ही तरह, बल्कि पहले से भी ज्यादा मेहनत कर रहे हैं। लेकिन फिर भी एक तरफ गले को बढ़ती हुई मंहगाई दबोचती है, तो दूसरी तरफ से नौकरी छिन जाने की तलवार सिर पर लटकती रहती है सब कहते हैं कि इन हालात की वजह आर्थिक मंदी है, जो सारी दुनिया में संकट बनकर छाई है, लेकिन इस बात पर सभी परदा डालते हैं कि इस मंदी या आर्थिक संकट की वजह पूंजीवाद है, जिसका एकमात्र उद्देश्य मुनाफा कमाना है। आज अमेरिका और यूरोप से लेकर मुंबई, कोलकाता और इन्दौर, पीथमपुर तक के मजदूर, छोटे कारखानेदार और छोटे व्यवसायी इस आर्थिक मंदी के

शिकार होकर अपनी रोजी-रोटी खो बैठे हैं। उदारीकरण के नाम पर कंपनियों को ज्यादा मुनाफा कमाने की ढील और मजदूरों के जायज हकों में कटौती का जो दौरबरस पहले शुरू हुआ था, वो अब ओर भी बेशर्म होकर गरीब जनता का शोषण कर रहा है। शोषण के खिलाफ लड़ी जा रही तमाम लड़ाईयां शोषणविहीन समाज की स्थापना के व्यापक संघर्ष का ही हिस्सा हैं और इसलिए 1 मई उन मजदूर साथियों ओर उनकी शहादत को याद करने का दिन तो है ही, जो समूचे मजदूर-मेहनतकश तबके के हितों और हकों के लिए लड़े।

साभार : पीपुल्स समाचार - 1.5.10





## रात की शिफ्ट और काम का अधिकार

◆ अंजलि सिन्हा

**ब**र्ई हाईकोर्ट में एक केस की सुनवाई चल रही थी। याचिका में महाराष्ट्र सरकार के उस नियम को चुनौती दी गयी थी जिसके अनुसार महिलाएं रात्रि साढ़े नौ बजे के बाद काम नहीं कर सकती। सरकारी प्रतिनिधि ने बताया कि बार में रात्रि काम करने वाली गरीब घर की महिलाओं के शोषण का खतरा होता है। कोर्ट ने पूछा, फिर वे अपनी आजीविका कैसे कमाएंगी और शोषण-उत्पीड़न तो कहीं भी हो सकता है, घर में पति के कपड़े धोते हुए भी। इस मामले में अदालत ने एक तरह से कोई भी पेशा चुनने के अधिकार (जो किसी का भी संवैधानिक हक है) की रक्षा की है। दूसरी अहम बात यह कि क्या कोई भी असुरक्षित क्षेत्र महिलाओं के लिए प्रतिबन्धित कर दिया जाना चाहिए? अंग्रेजों के जमाने में जारी फैक्ट्री एक्ट के अनुसार रात की पाली में महिलाओं के काम न कराने की व्यवस्था थी पर उन दिनों भी डॉक्टर तथा नर्सिंग आदि कुछ सेवा क्षेत्रों पर वह लागू नहीं होता था। अब इस एक्ट को खत्म कर दिया गया है।

रात की पाली में स्त्री के काम न करने के पीछे जो सबसे बड़ा तर्क दिया जाता रहा है, वह सुरक्षा का है। यह हकीकत भी है लेकिन आंकड़ों की पड़ताल करें तो स्त्री के लिए सार्वजनिक ही नहीं बल्कि निजी दायरा भी असुरक्षित है। यौन अपराधों पर गौर करें तो 'आत्मीय जनों द्वारा की जाने वाली यौन हिंसा' का प्रतिशत घटता नहीं दिखता। दिल्ली पुलिस की रिपोर्ट के मुताबिक 96 फीसद यौन हिंसा करीबी तथा जानकारों द्वारा की जाती है।

मसला सिर्फ महिलाओं का रात में काम करने का नहीं बल्कि उसे सभी दायरों में पर्याप्त सुरक्षा प्रदान

करने का भी है। इसके उलट जब भी रात में स्त्री यौन-हिंसा का शिकार होती है तो झट उसके अकेले बाहर नहीं निकलने की उपदेशात्मक बात की जाती है। बेंगलुरु में जब कॉल सेंटर में काम करनेवाली एक युवती रात में लौटते हुए यौन अत्याचार का शिकार होने के बाद मार दी गयी, तो पढ़े-लिखे समुदाय के एक वर्ग तक से यही सवाल आया था- आखिर रात में काम पर जाने को जरूरत क्या है? सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी व्यक्ति के लिए कोई भी स्थान असुरक्षित क्यों है? और क्या प्रशासन या शेष समाज का कर्तव्य नहीं कि वह सुरक्षा की गारंटी करे।

लिंग, जाति और धर्म के भेद बिना सभी को काम चुनने के अधिकार को आधार बनाते हुए सुप्रीम कोर्ट ने 1997 में महिलाओं के लिए कार्यस्थल सुरक्षित किये जाने संबंधी फैसला देते हुए इसकी जिम्मेदारी सरकार व नियोक्ता पर डाली। बहरहाल, रोजगार के अवसर उपलब्ध करना महत्वपूर्ण मसला है और रात्रि पाली में महिला के काम पर प्रतिबन्ध लगाना उनके अवसर छीनने जैसा है।

मुंबई हाईकोर्ट की दलीलों पर लौटें तो समझ आता है कि बार जैसी जगहों पर यह मानसिकता काम करती है कि वहां पुरुष मनमानी कर सकते हैं। अक्सर माना जाता है कि पुरुष नशे में कुछ भी कर जाता है पर इस मानसिकता के खिलाफ लड़ने की जरूरत है। यदि कोई होश खोता है तो उसका खमियाजा दूसरा क्यों भुगते?

यदि काम का बराबर का अवसर, सम्पत्ति के बराबर की मिल्कियत और बराबर श्रम का बराबर वेतन



सुनिश्चित नहीं होगा तो बराबर की हैसियत कैसी बन पायेगी? भारत सहित दुनिया के कई देशों में महिलाओं को पुरुषों की तुलना में कम वेतन मिलता है। ब्रुसेल्स में एक गैर-सरकारी संस्था इंटरनेशनल ट्रेड यूनियन कन्फेडरेशन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस पर जारी रिपोर्ट 'ए कॉल टू एक्शन एट आल लेवल्स' के मुताबिक विश्वभर में बराबरी के कानून के बावजूद जिन महिलाओं के बच्चे हैं वे पुरुषों की तुलना में एक तिहाई से कम कमाती हैं। परिवार में जारी असन्तुलन उनका करियर प्रभावित करता है। यह अध्ययन विश्व के 40 देशों में कराया गया। इस संस्था के 155 देशों में 17 करोड़ से भी ज्यादा सदस्य हैं। यूरोपीय संघ द्वारा जारी रिपोर्ट में भी भेदभाव होना दिखाया गया है और यह ग्रामीण इलाकों में अधिक पाया गया है। इस दिशा में बाम्बे हाईकोर्ट की दलीलें नियोक्ताओं को विचार का मौका देगी।

घर-परिवार के अन्दर स्त्री की भूमिका पर लौटे तो एक बात समझ आती है कि अगर स्त्री राम की पाली में काम करने जाती है तो घर का काम कौन निपटाएगा? यही नहीं, मूल्यों के धरातल पर अमूमन 'अच्छे परिवार' की किसी औरत का रात में बाहर काम पर जाना 'अच्छी बात' नहीं समझी जाती। 1961 में फैक्ट्री एक्ट बनाते वक्त नीति-निर्माताओं के मन में ये तमाम बातें रही होंगी पर अब उन मानदंडों को बदलने का समय आ गया है।

मसला असुरक्षा ही नहीं, काम के जेंडर-आधारित विभाजन का भी है। बच्चे के समाजीकरण की प्रक्रिया में श्रम का स्त्रीत्व और पुरुषत्व रूप में बंटवारा उसे गहरे प्रभावित करता है इसलिए निजी-सार्वजनिक सभी जगह स्त्री की उपस्थिति सुनिश्चित की जाए ताकि बराबरी के मूल्य पर आधारित समाज विकसित किया जा सके।

साभार : राष्ट्रीय सहारा - 20.4.10





## स्त्री ही बनाती है घर को

◆ रवीन्द्रनाथ टैगोर

इतिहास के वर्तमान मोड़ पर सभ्यता पूरी तरह से पौरुषीय है। एक ताकत की सभ्यता, जिसमें स्त्रियों को एक किनारे पर धकेल दिया गया है। इसलिए इस सभ्यता का संतुलन बिगड़ा हुआ है और यह एक युद्ध से दूसरे युद्ध में झोंकी जा रही है। स्त्री की भूमिका मिट्टी की तरह ग्रहणशील व समावेशी है, जो न सिर्फ पेड़ को बढ़ने में मदद करती है, बल्कि उसकी वृद्धि की सीमा भी तय करती है।

स्त्री के स्वभाव में स्थायित्व बहुत मूल्यवान गुण है। उसकी सारी शक्तियां कुदरतन चीजों को एक आकार देने में लगी रहती हैं। पुरुष ने शारीरिक ओर भावनात्मक बेड़ियों से अपनी तुलनात्मक आजादी का फायदा उठाया और अपने जीवन की सीमाओं को तोड़ने की दिशा में बेरोकटोक बढ़ चला। इस यात्रा में वह क्रांति और विध्वंस के खतरनाक रास्तों से होकर गुजरा है। इसका लाभ हुआ, लेकिन पुरुष को लाभ से भी ज्यादा नुकसान उठाना पड़ा है।

इतिहास के वर्तमान मोड़ पर सभ्यता पूरी तरह से पौरुषीय है। ताकत की सभ्यता, जिसमें स्त्रियों को एक किनारे पर धकेल दिया गया है। इसलिए इस सभ्यता का संतुलन बिगड़ा हुआ है और यह एक युद्ध से दूसरे युद्ध में झोंकी जा रही है। स्त्री की भूमिका मिट्टी की तरह ग्रहणशील व समावेशी है, जो न सिर्फ पेड़ को बढ़ने में मदद करती है, बल्कि उसकी वृद्धि की सीमाएं भी तय करती है। जीवन के लिए पेड़ अपनी शाखाएं ऊपरी दिशा में फैलाता है, लेकिन उसके समस्त गहरे बंधन जमीन के भीतर मिट्टी में छिपे हुए हैं। सभ्यता के

भी समावेशी तत्व चौड़े गहरे और स्थिर होने चाहिए। शील, विनय, समर्पण और आत्म-बलिदान की शक्ति अर्थात् समावेशिता के ये गुण स्त्री को पुरुष से ज्यादा अनुपात में मिले हैं। यह प्रकृति की समावेशिता का गुण ही है, जो जंगली तत्वों को सौम्य और कोमल बनाकर जीवन की सुंदर रचना में बदल देता है। स्त्री की समावेशिता की इसी शक्ति ने उसे वह गहरी शांति दी है, जो स्वास्थ्य, पोषण और संग्रहण के लिए अत्यावश्यक है।

पश्चिम में स्त्रियों में एक खास किस्म की बेचैनी है, जो स्त्री के स्वभाव का सामान्य पहलू नहीं है जो स्त्रियां अपनी रुचियों को जीवंत बनाए रखने के लिए अपने माहौल में कुछ विशेष तलाश करती हैं वह केवल यही सिद्ध करती हैं कि उनका अपने सच्चे जगत से नाता टूट चुका है। पश्चिम में बहुत सारी स्त्रियां और पुरुष भी उन चीजों की भर्त्सना करते हैं, जो आम हैं और उन चीजों का पीछा करते हैं, जो खास हैं। वे अपनी सारी शक्तियां उस नकली मौलिकता पर झोंक देते हैं, जो सिर्फ चकित करती है, संतुष्ट नहीं। मगर ऐसी कोशिशें जीवंतता की सच्ची निशानी नहीं है और ये पुरुषों से ज्यादा स्त्रियों की लिए घातक होंगी क्योंकि स्त्रियों में जीवनी शक्ति पुरुषों की तुलना में अधिक प्रबल होती है। स्त्रियाँ मनुष्य जाति की माताएं हैं और अपने आसपास की दुनिया की साधारण चीजों में उनकी सच्ची अभिरुचि होती है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्य जाति का विनाश हो जाएगा। अगर बाहरी उद्दीपन के प्रयोग से स्त्रियां एक मानसिक व्यसन पाल लें और लगातार सनसनी के घूंट-दर-घूंअ पीती जाएं तो वह अपनी प्राकृतिक संवेदनशीलता खो बैठेंगी और साथ ही अपने स्त्रीत्व की बाहर भी। इसी के साथ मनुष्य जाति को कायम रखने की वास्तविक शक्ति भी खो जाएगी।

एक आदमी की अभिरुचि दूसरे मनुष्य में तब ही



जागती है, जब उसमें कोई विशेष उपयोगिता या प्रतिभा हो, लेकिन एक स्त्री दूसरे मनुष्यों में दिलचस्पी रखती है क्योंकि वे जीवित प्राणी हैं, मनुष्य हैं। चूंकि स्त्री में यह शक्ति है, इसीलिए वह हमारे मानस को इतना मोहित करती है। जीवन के प्रति उसका ये उल्लास इतना आकर्षक होता है कि उसकी वाणी, चाल, हंसी सब गरिमामय हो जाते हैं।

इस सत्य को हम अपने प्रेम की शक्ति के द्वारा अंतर्बोध से जानते हैं। इस शक्ति के जरिए समझते हैं कि हमारे प्रेम और सहानुभूति के पात्र, अपने महत्वहीनता के खुरदरे भेस के बावजूद, अनमोल हैं। जब स्त्रियां साधारण चीजों में अपनी रुचि की शक्ति को खो बैठती हैं तो फिर फुरसत का समय अपने खालीपन से उन्हें डराता है क्योंकि उनकी अपनी कुदरती संवेदनशीलता कुंद हो चुकी है और उनके आसपास ऐसा कुछ भी नहीं, जो उनके ध्यान को आकर्षित कर सके। फिर वह अपने आपको बुरी तरह से व्यस्त रखती हैं। समय के उपयोग में नहीं, महज उसको काटने में।

यह सब कहने का मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि घरेलू जीवन ही स्त्री के लिए एकमात्र जीवन है। मेरा मतलब है कि मानवीय दुनिया महज संगठित करने का अमूर्त प्रयास नहीं, बल्कि मानवीय दुनिया स्त्रियों की दुनिया है, चाहे वह घरेलू दुनिया हो या जीवन की और कोई भी गतिविधि हो।

जब भी कोई चीज व्यक्तिगत और मानवीय है तो वह स्त्रियोचित ही है। घरेलू दुनिया ही वह दुनिया है, जहां हर व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व का सच्चा मूल्य मिलता है। इसलिए उसकी कीमत बाजारू कीमत नहीं है, बल्कि प्रेम की कीमत है। कहने का मतलब यह है कि वह मूल्य जो प्रभु ने अपनी अनंत दया से हर प्राणी को प्रदान किया है। घरेलू दुनिया स्त्रियों को प्रभु की एक भेंट है। वह अपने प्रेम की आभा को सब ओर अपनी सीमाओं के परे ले जा सकती है।

स्त्रियों को अपनी शक्ति का प्रयोग सतह को चीरकर चीजों के केंद्र में जाने के लिए करना चाहिए।

पुरुष के पास ऐसी शक्ति नहीं है, मगर स्त्री के पास है। वह उन प्राणियों से भी प्रेम करती है, जो अपने असामान्य चरित्र के कारण प्रेमयोग्य नहीं हैं। आदमी अपनी ही दुनिया में अपना फर्ज निभाता है, जहां वह सत्ता, संपदा और तमाम तरह के संगठन खड़े करता है। लेकिन प्रभु ने स्त्री को संसार से प्रेम करने के लिए भेजा है। वह किसी परी कथा के संसार में नहीं रहती। प्रभु के संसार में स्त्रियों के पास अपनी जादू की छड़ियां हैं, जो उनके दिलों को जगाए रखती हैं और ये छड़ियां संपदा के सोने की नहीं हैं और न ही सत्ता के लोहे की।

हमारे सारे आध्यात्मिक गुरुओं ने व्यक्ति के अनंत मूल्यों का गुणगान किया है। ये वर्तमान काल का निरंकुश भौतिकवाद है, जो संगठन के लहूलोलुप बुतों के आगे व्यक्तियों की क्रूर बलि दे रहा है। जब धर्म भौतिकवादी था, जब पुरुष भगवान से डरकर उसकी पूजा करता था या फिर सत्ता और संपदा के लोभ में करता था, तब अनुष्ठान नृशंस थे और बलिदान असंख्य परंतु पुरुष के आध्यात्मिक जीवन के विकास के साथ हमारी अर्चना प्रेम की अर्चना बन गई है।

सभ्यता जब पुरुष को विकृत कर देती है तो स्त्रियां लज्जा महसूस करती हैं। अपनी दिव्य भूमिका में स्त्रियों के लिए सेना, नेवी, संसद दुकानों व कारखानों से कहीं ज्यादा मनुष्य का मूल्य है। लेकिन चूंकि पुरुष अपनी सत्ता के अभिमान में हर मानवीय चीज का अपमान करता है, इसलिए बहुत सी स्त्रियां गला फाड़कर चीख रही हैं कि वे स्त्रियां हैं ही नहीं और सत्ता में ही उनकी सच्ची अभिव्यक्ति है। सत्ता के लोभ के चलते पुरुष ने स्त्री को उसकी दुनिया से वंचित कर दिया है। लेकिन यह हमेशा मुमकिन नहीं, क्योंकि वह सभ्यता के लिए पुरुष से कम नहीं, बल्कि ज्यादा जरूरी हैं स्त्री अब तक अलग-थलग रही है, पुरुष के पीछे गुमनाम रही है पर आने वाली सभ्यता में इसकी भरपाई होगी। जीवन की अगली पीढ़ी में वे हारेंगे, जो सत्ता की डींगें मारते रहे, शोषण करते रहे।

लेखक नोबेल विजेता भारतीय कवि, लेखक और चित्रकार हैं।

साभार : दैनिक भास्कर - 7.6.10



## पुराने कानून अब क्यों?

◆ किशन माहेश्वरी

**आ**पराधिक मुकदमे की प्रक्रिया को जिस सांचे में ढालकर अंग्रेजों ने भारत में गतिशील किया था, स्वतंत्रता प्राप्ति के अर्द्धदशक से अधिक समय बीत जाने के बाद भी उसी स्वरूप में वह आज भी कार्यरत है। यह न्यायिक प्रक्रिया दूषित है, इसमें सुधार की आवश्यकता है। भारत में आपराधिक आरोपों की यथासमय न्यायालय में संपुष्टि हुए बगैर कैदी वर्षों जेल की सलाखों के पीछे यातना सहता है। न्यायालय के इस क्रियाकलाप से कैदी की अपने जीवन के प्रति क्या मानसिकता बनती है तथा न्यायालय के प्रति उसकी किस प्रकार की अवधारणाएं बनती हैं, यह संबंधित मुकदमे के अभिलेख में स्पष्ट होना चाहिए। न्यायालय द्वारा अपराधी के विरुद्ध साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए तिथि मनमाने ढंग से मुकर्र की जाती है। इस मनमानी तिथि को मनोनुकूल बनाने के लिए रिश्वत की मनमानी राशि न्यायिक पदाधिकारी और न्यायिक कर्मचारी प्राप्त करते हैं। इस रिश्वत राशि का भरा हुआ बटुआ न्यायालय की दैनिक कार्यकाल की अवधि की समाप्ति के पश्चात घर प्रस्थान करते समय इन्हें ले जाते हुए देखा जा सकता है। वर्षों से न्यायिक परिसर में चल रही यह खुली छूट जगजाहिर है।

न्यायालय में साक्ष्य की प्रस्तुति हेतु प्रत्येक माह में एक या दो तिथि भी नियमतः लागू नहीं है। इसका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दुष्परिणाम यह होता है कि राज्यों में अपराधों की गतिविधियों का ग्राफ बढ़ता-चढ़ता जाता है तथा अपराधी को सजा मिलने में स्वतः ही विलम्ब हो जाता है।

आश्चर्य का विषय यह है कि साक्ष्यों की प्रस्तुति

के लिए कितनी तारीखें निर्धारित होनी चाहिए, इस विषय पर न्यायिक चिन्तकों और न्यायिकवेत्ताओं की सोच और शोध उभरकर नहीं आया है। इस देश में कानूनकारों द्वारा त्वरित न्यायालय का गठन कर जनता को दिलासा दिलाई गई थी कि अब देश में मुकदमों का निष्पादन जल्द हो जाएगा। यद्यपि इन न्यायालयों का गठन वर्षों पूर्व हो गया था किन्तु यहां भी केस-मुकदमों के यथाशीघ्र निष्पादन का ब्यौरा संतोषजनक नहीं है। यद्यपि फास्ट ट्रैक कोर्ट यानी त्वरित न्यायालय के गठन ने स्वतः ही यह स्पष्ट और सिद्ध कर दिया है कि अन्य न्यायालयों में मुकदमों का जल्द निष्पादन नहीं होता है। मुकदमे के जल्द निष्पादन के लिए परिवादी या प्रतिवादी उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय में याचिका दायर कर गुहार लगाता है। क्या ये याचिकाएं सर्वसूचित नहीं करतीं कि निचले न्यायालयों में व्यवस्था लचर हैं इस प्रकार की याचिका तभी दाखिल होती है, जब निचली अदालत में असामान्य तिथियां प्रदान की जाती हैं तथा यथोचित कार्रवाई के बिना केस को लम्बा खींचा जाता है।

न्यायिक प्रक्रिया में साक्ष्य की प्रस्तुति के लिए तिथि प्रदान करने की नियमावली नहीं होने के कारण न्यायिक पदाधिकारी एवं कर्मचारी के चित-चितवन में सहज रूप में पैशाचिक प्रवृत्तियां उभर जाती हैं तथा वे न्यायिक याचना कने वाले की कसक और कराह से सुखानुभूति प्राप्त कर भरपूर आनंद उठाते हैं। दीवानी मुकदमा तथा अन्य विविध प्रकार के मुकदमों में भी तिथियों का क्रम अहमियत रखता है। किन्तु रिश्वत की कील ने न्याय के सभी प्रशस्त दरवाजों को कीलित कर दिया है। जमानत पाने की प्रक्रिया में भी तारीख का



भारी-भरकम हस्तक्षेप रहता है। जब अभियुक्त की जमानत अर्जी दाखिल होती है तो न्यायिक पदाधिकारी तीन प्रकार की प्रक्रियाओं में किसी एक प्रक्रिया को तत्समय अभियुक्त की जमानत अर्जी पर विचारार्थ सुनते हैं। पहली प्रक्रिया है- जमानत स्वीकार करना, दूसरी प्रक्रिया है- जमानत अस्वीकार करना और तीसरी प्रक्रिया है थाने से केस संबंधित अन्य विवरण मांगना। पुलिस, अन्वेषणकर्ता से केस से संबंधित अन्य विवरण मंगाने की प्रक्रिया में तिथि मुकर्रर की जाती है। यद्यपि इन तीनों प्रक्रियाओं में रिश्वत की उगाही हो जाती है किन्तु थाने से केस डायरी मंगाने की प्रक्रिया में सरकारी वकील और पुलिस पदाधिकारी को भी मोटी-मोटी रिश्वत की रोटी मिल जाती है। न्यायालय द्वारा पारित आदेश 'कॉल फॉर डायरी' आम व खास भाषा में 'कॉल फॉर मनी' हो जाती है। केस डायरी मंगाने के क्रम में रिश्वत राशि

ठीक से वितरित नहीं होने से जमानत अर्जी पर निर्णय लंबे समय के लिए नियम हो जाता है फलस्वरूप, जेल यातना बढ़ जाती है। इस अवांछित विलम्ब और अप्रासंगिक प्रक्रिया के लिए न्यायालय अपने आपको दोषी और संलिप्त नहीं मानता।

इस प्रकार अनगिनत दूषित कानून ओर गैरवाजिब न्यायिक प्रक्रियाओं को अंग्रेज भारत में संचालित कर स्वतंत्रता सेनानियों को लंबे समय तक मानसिक, शारीरिक और आर्थिक यंत्रणा देते रहे थे, ताकि क्रांतिकारी देशभक्त हतोत्साहित होकर भारत स्वतंत्र कराने का इरादा छोड़ दें। आज स्वतंत्र भारत का पढ़ा-लिखा विशेष तबका भी इस न्यायिक परिपाटी को बदलना नहीं चाहता, क्योंकि इस पद्धति से उन्हें रिश्वत, रुतबा और रूलाने का स्वाद मिलता है।

साभार : पीपुल्स समाचार - 29.4.10



## सर्व-धर्म-समन्वय की महिमा

◆ आचार्य तुलसी

**ध**र्म वस्तुतः एक है, क्योंकि जो सत्य है वह धर्म है और जो धर्म है वह सत्य है। धर्म या सत्य की व्याख्याएं अनेक हैं। उनके आधार पर धर्म भी विभक्त हो गया। साधारण दर्शकों की दृष्टि में धर्म अनेक हैं। तत्व-द्रष्टाओं की दृष्टि में धर्म के अनेक शरीर होने पर भी उनकी आत्मा एक है। विनोबाजी उन्हीं तत्व-द्रष्टाओं में हैं जो धर्म की मौलिक एकता में कोई छिद्र नहीं देखते।

वार्तालाप के मध्य मैंने कहा- 'सर्व-धर्म-समन्वय के बारे में हमारे विचार पहले से ही स्पष्ट हैं। इस यात्रा में वे और अधिक स्पष्ट हुए हैं। हमारी सारी यात्रा ही 'अणुव्रत-यात्रा' के नाम से हुई है। हमने सर्वत्र मानवता की बात को प्रमुखता दी है। हमारी दक्षिण भारत की यात्रा के तीन उद्देश्य मुख्य रूप से रहे हैं- मानवता का निर्माण, धर्म-समन्वय और धर्म-क्रांति। धर्म में भी आज क्रांति की अपेक्षा है। वह केवल रूढ़ न हो। रूढ़ होने से उसका मूल दब जाता है। धर्म अध्यात्मपरक होना चाहिए। आप भी तो कहते हैं कि यह धर्म का युग नहीं, अध्यात्म का युग है। हमारी यात्रा के तीनों उद्देश्यों का जनता ने सर्वत्र समर्थन किया। लोगों ने आश्चर्य किया कि एक धर्म-संप्रदाय के आचार्य होते हुए भी अपने संप्रदाय की बात न करके, मानवता की बात करते हैं।'

मुनि नथमलजी- 'आचार्यश्री तो मुख्य रूप से कहते भी यही हैं कि मैं पहले मनुष्य हूँ, फिर धार्मिक हूँ, फिर जैन हूँ और फिर तेरापंथी हूँ।'

इससे धर्म-समन्वय का मार्गप्रशस्त हुआ है। केरल जैसे प्रांत के निवासियों ने भी, जहां कम्युनिस्ट अधिक

रहे हैं, महसूस किया कि ऐसे धर्म की उन्हें भी अपेक्षा है।

विनोबाजी- 'सर्व-धर्म-समन्वय' की बात आपने कही है। जहां तक मैंने शास्त्रों को पढ़ा है मुझे लगा कि महावीर ने मध्यस्थता की दृष्टि दी। उन्होंने कहा कि एक पहलू से हर वस्तु सही नहीं होती। किसी के शब्द को तोड़ना नहीं चाहिए क्योंकि एक अर्थ में वह भी सही हो सकता है। प्रमाण अलग है तो नये भी अलग है। महावीर की अहिंसा को श्रेष्ठ माना गया है पर वह पहले भी थी। वेदों में भी 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' कहा गया है। यह महावीर की अहिंसा का ही एक रूप। महावीर के पास कोई तत्व चर्चा के लिए आता तो वे उसकी श्रद्धा के अनुसार तदनुकूल बात कहते और समझा देते। अपना सिद्धांत किसी पर लादते नहीं थे। मुझसे पूछा जाता है जैन कम क्यों हैं? मैं कहता हूँ कि कम होना बुद्धिमानी की बात है। शक्कर मीठा होता है। वह दूध में मिलाकर अपना अस्तित्व उसमें समाहित कर देता है। दूध में मिलने के बाद लोग कहते हैं कि दूध मीठा है। पर वास्तविक मिठास शक्कर का होता है। जैन लोग भी इसी प्रकार दूसरों में मिलकर उन्हें गुप-चुप मीठा बना देते हैं। महाराष्ट्र में पहले जब बच्चे को पढ़ने के लिए भेजा जाता था तो उन्हें सर्वप्रथम 'श्रीगणेशाय नमः' सिखाया जाता था। बच्चे जैन नहीं होते थे किन्तु अध्यापक जैन होता था अतः उसे दूसरा पाठ 'ओम् नमः सिद्धेय्य' पढ़ाया जाता था। आज भी ऐसा लिखा जाता है। इससे उनमें संस्कार गहरे हो जाते थे।

(राजपथ की खोज पुस्तक से साभार)  
साभार : राष्ट्रीय सहारा 19.4.10





## राजनीतिक लाचारी का सच

◆ कुन्दन पाण्डेय

विश्व में शायद ही कोई ऐसा देश होगा जहां पंथनिरपेक्ष लोकतंत्र हो, किंतु जिसने अपने देशवासियों के लिए मजहबी आधार पर अलग-अलग नियमों और कानूनों का निर्माण किया हो।

संसद के सन् 2002 के एक सत्र में गोरखपुर के सांसद योगी आदित्यनाथ के प्रस्ताव पर लंबे समय बाद लोकसभा में समान नागरिक संहिता के मुद्दे पर जोरदार बहस की स्थिति काफी दिनों बाद उत्पन्न हुई, किन्तु इस विषय पर जिस गंभीरता के साथ चर्चा होने की अपेक्षा थी, वैसी चर्चा नहीं हुई। यद्यपि कुछ अपवादों के अतिरिक्त देश के विशेष ओर आम आदमी सभी यह सोचते और मानते हैं कि राष्ट्रीय एकता-अखंडता के लिए देश में एक संविधान और एक समान कानून का सिद्धांत चलना चाहिए। एक आम धारणा यह भी है कि गांधी, नेहरू और अम्बेडकर के नाम पर अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करने वाले लोग ओर दल उनके बनाए संविधान को पूर्णतः लागू करने के मुद्दे पर अभी भी तैयार नहीं हैं, आगे भी जल्दी तैयार नहीं होंगे। इस बहस में भी इस अतिमहत्व के मुद्दे को महज मजहबी अल्पसंख्यकवादी राजनीतिक नजरिये से देखा गया। पिछले पांच दशकों से दी जा रही वही थोथी दलीलें पुनः दोहराई गईं। समान नागरिक संहिता का मुद्दा पुनः साम्प्रदायिकता और थोक वोट की राजनीति की तराजू

पर तौला गया और कांग्रेस सहित सभी अल्पसंख्यकवादी स्वयंभू सेकुलर दल आंखें मूंदे रखना चाहते हैं कि संविधान के नीति निर्देशक तत्वों वाला अनुच्छेद 44 बार-बार हमें यह निर्देशित करता है कि भारत अपने सभी नागरिकों के लिए समान नागरिक संहिता बनाएगा।

जिस कांग्रेस ने अपने शासन काल में 76 बार संविधान का संशोधन मूलतः निजी और दलीय स्वार्थों को देश पर थोपने के लिए किया, उसी ने देश की एकता, अखंडता और सामाजिक सांप्रदायिक समरसता के लिए आवश्यक समान नागरिक संहिता को नकार दिया। विश्व में शायद ही कोई ऐसा देश होगा जहां पंथनिरपेक्ष लोकतंत्र हो, किंतु जिसने अपने देशवासियों के लिए मजहबी आधार पर अलग-अलग नियमों और कानूनों का निर्माण किया हो। केवल भारत ही एक ऐसा देश है जहां कुछ समुदायों के लिए व्यक्तिगत कानून है, उनके लिए कानून की किताबें बदल दी जाती हैं। भारतीय परंपरा और जीवन दर्शन स्वभावतः पंथनिरपेक्ष है। यहां की विविधता और यहां के अनेक पंथ संप्रदायों का सहचिंतन एवं सहजीवन इसका प्रमाण है। भारतीय पंथनिरपेक्षता यहां की राजनीतिक और मजहबी मजबूरी नहीं है। सर्वपंथ समादर उनकी मूल चेतना, उसके चिंतन और आचरण का अभिन्न अंग है। मजहबी आधार पर देश का बंटवारा स्वीकार कर लेने के बाद उन तमाम कारणों और आधारों को पुनर्जीवित होने दिया गया, जो राष्ट्र विभाजन के लिए जिम्मेदार थे।

सर्वोच्च न्यायालय ने गत पंद्रह वर्षों में तीन बार समान नागरिक संहिता लागू करने की सलाह या निर्देश दिए हैं। सन् 1985 में शाहबानों के मामले में सर्वोच्च



न्यायालय ने फैसला मुस्लिम महिलाओं के हम में दियाथा, लेकिन अल्पसंख्यकवाद, थोक मुस्लिम वोटों और फिरकापरस्त मुस्लिम मुल्लाओं के दबाव में बहुमत के बल से कांग्रेस ने भारत के कानून और संविधान के हाथ बांध दिए और उसकी सत्तालोलुप राजनीति देशहित को धकियाकर मुस्लिम पर्सनल लॉ के पक्ष में खड़ी हो गई। सर्वोच्च न्यायालय ने 1995 में भी कल्याणी नामक स्वयंसेवी संस्था की एक याचिका पर यह टिप्पणी की थी कि वह देशहित में नहीं होगा कि कानून बनाकर एक वर्ग पर एक से अधिक शादी करने पर रोक लगा दी गई और दूसरे वर्ग विशेष को चार शादियां करने की छूट देकर समाज के अन्या लोगों को मतांतरण के लिए मजबूर कर दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने 1995 में यह अपेक्षा की थी कि देशहित में ससंद शीघ्रतिशीघ्र समान नागरिक संहिता बनाएगी। 63 साल के इस स्वतंत्रयोत्तर राष्ट्र जीवन में किसी भी सरकार ने समान नागरिक संहिता लागू करने की कोशिश नहीं की। कांग्रेसियों

और अल्पसंख्यकवादी सरकारों से तो उम्मीद भी नहीं, किन्तु भाजपा से भी देशवासियों को घोर निराशा हुई है। देशवासियों की निराशा इस बात से है कि समान नागरिक संहिता की जरूरत को मुस्लिम विरोध के रूप में पेश किया जाता है। ऐसा कभी भी नहीं देखा जाता कि समान नागरिक संहिता न सिर्फ देश और समाज की एकता व अखण्डता के लिए जरूरी है। सभी महजबों को एक समान आधार भूमि पर प्रतिष्ठित करने का सूत्र भी है। जिन लोगों ने यह मान लिया है कि मजहबी भेदभाव किए बिना उनकी राजनीतिक यात्रा का अंत हो जाएगा, सिर्फ उन्हें ही इस पर ऐतराज है। यदि ऐसा नहीं होता तो पाकिस्तान, अरब, ईरान और सऊदी अरब में शामिल कानूनों या पर्सनल लॉ में जरूरत के मुताबिक परिवर्तन किए जाने के बाद भी भारत में समान नागरिक कानून या संहिता बनाने का विरोध नहीं किया जाता।

साभार : पीपुल्स समाचार 3.5.10



## आतंकवाद पर प्रतिक्रिया काफी नहीं

◆ जोगिंदर सिंह

हमारे कानून न केवल अपर्याप्त हैं बल्कि उन्हें अमल में लाना भी संभव नहीं है। जैसे आधीरात में घटी घटना के लिए भी स्वतंत्र चश्मदीद गवाह की जरूरत होती है ओर जब गोलीबारी चल रही हो तो उस हालत में भी उनकी पहचान आवश्यक है। ये सब बातें मुमकिन नहीं लगती। कोई भी गवाह सालों तक चलने वाले केस की वजह से जानबूझकर अपनी जान जोखिम में नहीं डालेगा।

पुरानी कहावत है कि जब जहाज डूबने लगता है तो चूहे सबसे पहले भागते हैं। 26/11 की साजिश करने वालों ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि उनका जुर्म दुनिया के सामने आएगा। कुछ तो कसाब के जिंदा पकड़े जाने से इस साजिश का खुलासा हुआ, उसके बाद अमेरिका में एफबीआई की तपतीश के बाद बाकी जानकारियाँ भी मिलीं।

अमेरिका की फ़ैडरल ग्रैंड ज्यूरी ने 2010 में अपने अभियोग में आतंकी साजिशकर्ताओं तहव्वुर हुसैन राना और डेविड कोलमैन हैडली द्वारा मुंबई पर हमले की बनाई योजना का तफसील से ब्यौरा दिया है। पाकिस्तानी मूल के शिकागो वासी राणा और अमेरिकी नागरिक हैडली पर अमेरिकी ज्यूरी ने आरोप लगाया है कि उन्होंने लश्कर-ए-तोइबा को मुंबई पर हमला अंजाम देने के लिए जमीन तैयार की और उन्हें साजो-सामान मुहैया कराने के लिए मदद दी। इस आरोप पत्र में कहा गया है कि हमले के समय हथियारबंद आतंकी पाकिस्तान में बैठे

लश्कर-ए-तोइबा के तीन सरगनाओं के साथ टेलीफोन द्वारा संपर्क में थे। हमले के वक्त आतंकियों को कहा गया कि वे बंधकों को मार डालें और और ग्रेनेड फेंकें। लश्कर-ए-तोइबा के एक सदस्य ने कैद हमलावर को छुड़ाने के लिए एक बंधक को छोड़ने की व्यवस्था भी करनी चाही। आरोप पत्र के मुताबिक 10 जवान पाकिस्तानी युवकों को लश्कर-ए-तोइबा ने जुलाई-अगस्त 2008 में गहन प्रशिक्षण दिया।

पाकिस्तानी-कैनेडियन आतंकी संदिग्ध तहव्वुर हुसैन राना ने 26/11 मुंबई हमले के संबंध में पूछताछ के दौरान स्वीकार किया कि वह पाकिस्तानी सेना का एक भगोड़ा है। अमेरिका के संघीय न्यायालय में दाखिल किए गए शपथ पत्रों में एफबीआई ने कहा है कि 48 वर्षीय राना, लश्कर-ए-तोइबा के ऑपरेटिव डेविड हैडली द्वारा किए गए षड्यंत्र में साझीदार हैं शिकागो की अदालत में दर्ज अभियोग में 49 वर्षीय हैडली को दोषी ठहराया गया है। इस याचिका में यह भी कहा गया है कि अमेरिका अटॉर्नी के दफ्तर द्वारा निर्देश मिलने पर हैडली को पूर्ण रूप से और सच्चाई के साथ अमेरिका में होने वाली किसी भी विदेशी न्यायिक प्रक्रिया में बयान, वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग या अनुरोध पत्र के जरिए गवाही देनी होगी।

जिन अपराधों में दोष साबित हो जाने पर हैडली को मौत की सजा भी हो सकती है उनमें कुछ इस प्रकार हैं— एक भारत में सार्वजनिक स्थानों पर बम फोड़ने की साजिश। दो— भारत में लोगों को कत्ल करने व पंगु बनाने की साजिश। तीन— भारत में अमेरिकी नागरिकों को मारने के लिए मदद देना। चार— भारत में आतंकी कार्य के लिए सामग्री सहयोग का षड्यंत्र। पांच— डेनमार्क में लोगों को मारने व विकलांग करने का षड्यंत्र। छः— डेनमार्क में आतंकवाद हेतु सामग्री सहयोग की साजिश। सात— लश्कर के आतंकियों को हथियार मुहैया कराने का षड्यंत्र। जिस



तरह से हैडली सहयोग करता रहा है और उम्मीद है कि भविष्य में भी वह इसी प्रकार सहयोग करेगा, उसे देखते हुए अमेरिका के अटॉर्नी जनरल ने शिकागो के अटॉर्नी को यह अधिकार दिया है कि हैडली को मौत की सजा न दी जाए। अगर वह पूरी तरह से सच्चाई के साथ सहयोग जारी रखता है तो सरकार न्यायालय से कहेगी की दिशा-निर्देशों से हटकर उसे छूट दी जाए।

इस बीच भारत सरकार ने अधिकारियों की एक टीम को भेजने का फैसला किया है। इस टीम में कुछ गृहमंत्रालय के अधिकारी भी होंगे और यह टीम पाकिस्तानी-अमेरिकी आतंकी डेविड कोलमैन हैडली से पूछताछ करेगी। इस हेतु एक प्रश्नावली तैयार की जा रही है। हालांकि हैडली पर भारत में केस दर्ज हुआ था लेकिन मुकदमा चलाने के लिए उसे कभी भी भारत नहीं भेजा जाएगा।

यद्यपि हैडली से पूछताछ द्वारा स्थानीय आतंकी मॉड्यूल, उनके शुभचिंतकों और भारत में आईएसआई के गुपचुप आतंकियों के बारे में काफी जानकारी मिल सकती है। अमेरिका वादा कर चुका है कि वह भारत को हैडली से पूछताछ करने देगा। इधर पाकिस्तान में बैठे आतंकी हमेशा की तरह खम ठोंक रहे हैं और कह रहे हैं कि एक मुंबई हमला काफी नहीं है। देश की सुरक्षा और उसे सुचारु रूप से चलाए रखने के लिए दूसरों से सबक सीखें जा सकते हैं। एक चीज तो साफ है कि इतनी सरकारी मदद मिलने के बावजूद हमारी एजेंसियाँ आतंकियों की योजनाओं को पहले से ही पता लगाने में नाकाम रही हैं।

हमारे कानून न केवल अपर्याप्त हैं बल्कि उन्हें अमल में लाना भी संभव नहीं है। जैसे आधीरात में घटी घटना के लिए भी स्वतंत्र चश्मदीद गवाह की जरूरत होती है ओर जब गोलीबारी चल रही हो तो उस हालत में भी उनकी

पहचान आवश्यक है। ये सब बातें मुमकिन नहीं लगती। कोई भी गवाह सालों तक चलने वाले केस की वजह से जानबूझकर अपनी जान जोखिम में नहीं डालेगा। हमने कभी यह सुनिश्चित नहीं किया कि आतंकियों को उनके अंजाम तक पहुँचाया जाए। आतंकवाद से लड़ना अपने आप में एक पूरा पैकेज है जिसमें न सिर्फ गुप्तचर सेवाएँ, तफ्तीश, रोकथाम हेतु उपाय, पुख्ता साजो-सामान शामिल हों बल्कि समाज के सभी वर्गों को इसमें शामिल करना होगा, विशेषकर मुसलमानों को। गृह मंत्रालय के मुताबिक भारतीय पुलिसबल में सिपाहियों की चार लाख से अधिक रिक्तियाँ हैं। अदालतों में बहुत बड़ी संख्या में मामले लटके हुए हैं जिनमें दोषी और निर्दोष शामिल हैं। एक पूर्व मुख्य न्यायाधीश के अनुसार हमारे देश में करीब 3.32 करोड़ केस लंबित हैं और अगर इनमें एक भी केस और नहीं जुड़ा तो इन्हें निपटाने में 370 साल लग जाएँगे। इसके अलावा हमें गवाह की सुरक्षा के लिए कानून लाना होगा। अमेरिका में जल्दी न्याय क्यों मिल जाता है, इसके पीछे एक कारण यह है कि वहाँ 90 प्रतिशत मामले आपसी सहमति द्वारा निपटा लिए जाते हैं। 1993 के मुंबई बम विस्फोटों को फैसला 2006 में आया। 13 सालों के इस अरसे के दौरान कुछ अभियुक्त आखिरकार छूट गए ओर कुछ मर गए। ऐसा ही इंजीनियर सत्येन्द्र दुबे के मामले में हुआ जिसे माफिया ने मार डाला था, इसका फैसला 6 सालों बाद आया। इसका हल करना सरकार के हाथ में है। पुलिस के जरिए यह काम नहीं हो सकता क्योंकि पुलिस किसी व्यक्ति को दोषी या निर्दोष करार नहीं दे सकती। सरकार को न्याय के लिए खड़ा होना होगा और न्याय प्रणाली को मजबूत करना होगा क्योंकि जो कुछ भी नहीं करता, वह कुछ नहीं पाता।

(लेखक केन्द्रीय जाँच ब्यूरो के निदेशक रहे हैं)

साभार : नवदुनिया - 29.3.10





## विकास की विसंगतियां

◆ डा. भरत झुनझुनवाला

विकास योजनाओं का मूल्यांकन खपत के स्तर के साथ-साथ अंतर्मन के स्तर पर भी किया जाना चाहिए अन्यथा हम एकांगी विकास का झूठा सौदा कर लेंगे।

रिक्टरलैंट के दावोस शहर में प्रतिवर्ष होने वाले वर्ल्ड इकोनामिक फोरम के प्रमुख कार्ल श्वाब ने कहा है कि नई तकनीकों के अंधाधुंध दुरुपयोग के कारण आज विश्व को अनेक प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ रहा है। बेरोजगारी बढ़ रही है क्योंकि मशीनों से उत्पादन होने लगा है। श्रमिकों के हाथ में क्रय शक्ति नहीं रह गई है और अर्थव्यवस्था में मंदी छा गई है। परमाणु तकनीक से ऊर्जा का उत्पादन कर लिया गया है। परन्तु इसी तकनीक से परमाणु अस्त्र बनाए जा रहे हैं।

तकनीक के ऐसे दुरुपयोग के केंद्र में सुख की आधुनिक परिभाषा हैं अर्थशास्त्रियों ने यह मान लिया है कि खपत से सुख हासिल होता है परन्तु अनुभव यह बताता है कि हर प्रकार की खपत से सुख नहीं मिलता। जैसे गरम चाय को इच्छा होता ठंडे पानी की खपत से सुख नहीं मिलता। अतः सुख का मुख्य स्रोत अंतर्मन में पड़ी इच्छाएं हैं। इन इच्छाओं के अनुरूप खपत का फल सुखदाई होता है जबकि इन इच्छाओं के विपरीत खपत दुखदाई होती है। आज विज्ञापनों के माध्यम से बालकों-बालिकाओं को जंक फूड खाने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। बच्चे के अंतर्मन में गन्ने के ताजा रस को पीने की इच्छा के दबाकर बोतलबंद शीतल पेय पीने के लिए उकसाया जाता है। इससे अंतर्मन उद्वेलित हो जाता है और बच्चों को संतुष्टि

नहीं मिल पाती। परन्तु अपने वेतन के चंद रूपयों को अर्जित करने को अर्थशास्त्री अंतर्मन की अनदेखी करते हैं और उन वस्तुओं की मार्केटिंग करते हैं जो उनके मालिक चाहते हैं न कि जो उपभोक्ता का अंतर्मन चाहता है। अंतर्मन के विपरीत होने वाली इस खपत के लिए उत्पादन बढ़ाया जा रहा है, मशीनों को बेतहाशा उपयोग हो रहा है और लोग बेरोजगार हो रहे हैं। परमाणु विद्युत संयंत्र लगाए जा रहे हैं और परमाणु अस्त्रों का विस्तार हो रहा है।

अपने देश में विकास के इस माडल का विचित्र खेल हरिद्वार के वर्तमान महाकुंभ में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। यह महाकुंभ गंगा के तट पर आयोजित होता है। हमारे धर्मशास्त्रों में गंगा को मोक्षदायिनी बताया गया है। मोक्षदायिनी का अर्थ है अंतर्मन को व्यवस्थित करना। ज्ञात हो कि चुंबक के पास लाने से लोहे के अणु कतारों से सुव्यवस्थित हो जाते हैं यद्यपि ऊपर से कुछ भी दिखाई नहीं देता है। इसी प्रकार गंगा में स्नान करने से अंतर्मन सुव्यवस्थित हो जाता है। स्नान करने वाले तीर्थयात्री के अंतर्मन में पड़ी इच्छाओं का क्षय हो जाता है। नतीजा यह होता है कि उसे न गन्ने के रस को पीने की इच्छा होती है और न ही बोतलबंद शीतल पेय के विज्ञापन का असर उस पर होता है। मन की यह परिपूर्णता ही मोक्ष है। गंगा की अंतर्मन को व्यवस्थित करने की यह शक्ति उत्तराखंड की पहाड़ियों पर ऋषियों द्वारा की गई तपस्या से उत्पन्न होती है। ऋषियों की तपस्या से पहाड़ की शिलाओं के अणु सुव्यवस्थित हो जाते हैं। वर्षा का पानी जब इन शिलाओं से रगड़कर बहता है तो पानी के अणु भी व्यवस्थित हो जाते हैं। तीर्थयात्री द्वारा गंगा में स्नान करने से उसके अंतर्मन के अणु भी व्यवस्थित हो जाते हैं। उसके मन में चल रहा इच्छाओं का भूचाल शांत हो जाता है, यद्यपि ऊपर से कुछ दिखाई नहीं देता है।

सांसारिक मनुष्यों द्वारा स्नान करने से गंगा के जल



के अणुओं में कुछ अव्यवस्था पैदा होती है परंतु संतों द्वारा स्नान करने से सुव्यवस्था पुनः स्थापित हो जाती है। गंगा के जल में अणुओं की व्यवस्था का यह लेन-देन सहज ही हो जाता है। इस लेन-देन को संपन्न और कायम रखने के लिए गंगा का मुक्त बहाव निहायत जरूरी है। गंगा जब पत्थरों से रगड़ती हुई कल-कल बहती है तो उसके जल में विशेष रसासन प्रवेश करते हैं जो इस लेन-देन को सुलभ बनाते हैं। जैसे गंदे पानी में फिटकरी छुआने से उसकी गंदगी बैठ जाती है उसी प्रकार गंगाजल के पत्थरों से रगड़ कर बहने से उसमें अणुओं की सुव्यवस्था बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। अतः गंगा से सुख हासिल करने के लिए गंगा को गंगोत्री से गंगासागर तक स्वच्छंद बहने देना चाहिए जिससे उसमें ऐसे रासायनिक गुण बने रहें।

दुर्भाग्य है कि आधुनिक अर्थशास्त्र अंतर्मन को मान्यता नहीं देता है। आधुनिक अर्थशास्त्र अंतर्मन को मान्यता नहीं देता है। आधुनिक अर्थशास्त्र के अनुसार गंगा में स्नान करने का लाभ केवल उस यात्रा में किए गए खर्च के बराबर होता है, उससे ऊपर नहीं। अतः आधुनिक अर्थशास्त्र के अनुसार रसायनों से परिपूर्ण गंगा में स्नान करने अथवा बांधों में सड़े एवं मरे हुए पानी में स्नान करने का लाभ बराबर होता है। अंतर्मन को शांत करने की शक्ति का ह्रास होने से अर्थशास्त्रों को कुछ लेना-देना नहीं है।

अर्थशास्त्रियों का प्रयास मनुष्यों की खपत को बढ़ाने तक सीमित है अतः वे गंगा की जीवंतता को अनदेखा करते हुए इस बात की वकालत करते हैं कि गंगा और उसकी सहायक नदियों के एक-एक इंच के बहाव का उपयोग जल विद्युत बनाने के लिए किया जाना चाहिए। टिहरी बांध में गंगा का पानी महीनों सड़ता है और उसमें अणुओं को व्यवस्थित करने के गुण लुप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार अलकनंदा पर श्रीनगर में बन रही जल विद्युत परियोजना के तालाब में पानी को सड़ा कर अलकनंदा की इस शक्ति को भी समाप्त करने की सरकार की योजना है। हरिद्वार में

गंगा पर बैराज बनाकर पानी को नहर में बहाया गया है। इसी नहर में कुंभ का स्नान होता है। हरिद्वार के बाद वह बहाव नहर बन जाता है। तीर्थयात्रियों द्वारा हर की पैड़ी पर स्नान करने से जो आणविक अव्यवस्था नहर के जल में समाहित हो जाती है उसका निष्पादन नहीं होता है चूंकि इसके बाद उस नहर में संत स्नान नहीं करते हैं। हमारे अर्थशास्त्रियों को अंतर्मन की इन आवाजों से कोई सरोकार नहीं है। उन्हें तो केवल नहर से होने वाले कृषि उत्पादन मात्र से सरोकार है।

अर्थशास्त्री और सरकार दोनों ही नई तकनीकों को थोपने के मद में चूर हैं। आज पहाड़ों में सुरंग खोदना और नदियों पर बांध बनाना आसान हो गया है। इस तकनीकी उपलब्धि का दुरुपयोग केवल खपत को बढ़ाने के लिए किया जा रहा है। देहरादून के शापिंग माल में एयरकंडीशनर चलाने से खपत बढ़ती है और अर्थशास्त्रियों द्वारा उस खपत की गणना की जाती है। गंगा के पानी के रासायनिक तत्वों को टिहरी और श्रीनगर की झील में सड़ाने से जो सुख का ह्रास होता है उसकी गणना आधुनिक अर्थशास्त्री नहीं करते। वर्ल्ड इकोनामिक फोरम के अध्यक्ष द्वारा तकनीकों के इस प्रकार के दुरुपयोग की ओर ध्यान दिलाने का प्रयास स्वागत योग्य है।

सुझाव है कि विकास की हर योजना का मूल्यांकन खपत के स्तर के साथ-साथ अंतर्मन के स्तर पर भी किया जाना चाहिए अन्यथा हम एकांगी विकास का झूठा सौदा कर लेंगे। कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए नहर में महाकुंभ महोत्सव रचाएंगे। गंगा के पानी पहाड़ी झीलों तथा ऋषिकेश, हरिद्वार, बिजनौर व नरोरा की बराज में सड़ाकर हम कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, पटना और कोलकाता के करोड़ों लोगों को दुख पहुंचा रहे हैं। आधुनिक तकनीकों के ऐसे आसुरी उपयोग पर रोक लगनी चाहिए। महाकुंभ का स्नान बहती गंगा में होना चाहिए न कि नहर में।

साभार : दैनिक भास्कर - 10.2.2010





## पृथ्वी बचाने की कोशिश

◆ गार स्मिथ

संयुक्त राज्य अमेरिका पर्यावरण सुरक्षा एजेंसी (ईपीए) ने कार्बन डाईआक्साइड को क्लीयर एयर एक्ट (स्वच्छ वायु अधिनियम) की धारा 202 (अ) के अंतर्गत दूषित करने वाले एक तत्व के रूप में परिभाषित कर दिया है। इसके बाद हम जब भी सांस लें तो हमें इसी के साथ 'माफ कीजिए' भी बुदबुदाना चाहिए। एक वयस्क सामान्य तौर पर प्रति मिनट 250 मिलीलीटर ऑक्सीजन खींचता है और 200 मिलि लीटर कार्बन डाईआक्साइड छोड़ता है। इस तरह करीब 6.6 अरब मनुष्यों के फेफड़े निरंतर कार्यशील रहते हैं, जिनसे प्रतिवर्ष 2.16 खरब टन कार्बन डाईआक्साइड वातावरण में इकट्ठा होती है। मनुष्यों द्वारा सांस लेने के दौरान छोड़ी गई कार्बन डाईआक्साइड वैश्विक कार्बन डाईआक्साइड उत्सर्जन की 9 प्रतिशत बैठती है, जो कि 50 करोड़ कारों द्वारा छोड़ी गई गैस के बराबर है।

वहीं संयुक्त राष्ट्र संघ का अनुमान है कि सन् 2050 तक विश्व की आबादी में 37 प्रतिशत की वृद्धि हो जाएगी। ये फेफड़े भी प्रतिवर्ष 824 अरब टन अतिरिक्त गैस उत्सर्जन करेंगे। पृथ्वी पर सांस लेने वाले जीवों का प्रादुर्भाव करीब 60 करोड़ वर्ष पूर्व हुआ है तब से कार्बन डाईआक्साइड और ऑक्सीजन के स्तरों में उतार-चढ़ाव आता रहा है। ऑक्सीजन के मामले में यह 16 से 35 प्रतिशत तक रहा है। औद्योगिक क्रांति के पूर्व मानवीय सांस का हिसाब-किताब ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं था, क्योंकि प्रकृति के चक्र से न्यूनतम छेड़छाड़ होती थी। जितनी भी कार्बन डाईआक्साइड निकलती थी, वह पेड़-पौधों द्वारा सोख ली जाती थी, जानवर पेड़-पौधे खाते थे तथा पेड़-पौधों और जानवरों को मनुष्य खा जाते थे। परन्तु जब से हमने जीवाश्म ईंधन जलाना

प्रारंभ किया, तब से डायनसोर के समय से चला आ रहा कार्बन समीकरण बदल गया है 'आउट ऑफ थिन एयर: डायनासोर्स, बर्ड्स एंड अर्थ एन्शियन्ट एटमॉस्फियर' के लेखकों का आकलन है कि पृथ्वी के 'पांच विशाल' की विलुप्ति अधिक कार्बन डाईआक्साइड और कमतर ऑक्सीजन के दौर में हुई है।

ऑक्सीजन के स्तर में थोड़ी सी गिरावट को 'प्राणियों की थोकबंद विलुप्ति' से जोड़ा जा सकता है। पृथ्वी की अनेक प्रजातियां पहले ही बड़ी संख्या में समाप्त होती जा रही हैं। दूसरी ओर बाघ से लेकर धुव्रीय भालु भी विलुप्ति की कगार पर खड़े हैं। सिर्फ हमारी कारें और कारखाने ही कार्बन डाईआक्साइड नहीं छोड़ते, हमारे भोजन का हिस्सा बना मांस भी जान लेवा साबित हो रहा है। खाद्य एवं कृषि संगठन का कहना है कि 'मांस और दुधारु पशु, भौगोलिक पशु बायोमास का 20 प्रतिशत उत्सर्जित करते हैं। पशुओं ने पृथ्वी के 30 प्रतिशत भाग पर कब्जा जमा रखा है और ग्रीन हाउस गैसों में उनका योगदान 18 प्रतिशत है जो कि यातायात क्षेत्र से भी अधिक हैं इससे भी बुरी स्थिति यह है कि गाय मीथेन गैस का अत्यधिक उत्सर्जन करती है। मीथेन गैस, कार्बन डाईआक्साइड के मुकाबले वैश्विक तापमान वृद्धि में 23 गुना ज्यादा योगदान करती है। इसी तरह गाय नाइट्रस आक्साइड भी छोड़ती है, जो कि कार्बन डाईआक्साइड से 286 गुना अधिक ताप एकत्रित करती है। इतना ही नहीं हमने कार्बन डाईआक्साइड संचित करने वाले वनों और उत्तरी अमेरिका के घास के विशाल मैदानों के स्थानापन्न के रूप में को मीथेन का उत्सर्जन करने वाले जानवरों के विशाल बाड़ों को अपना लिया है। चूंकि मिथेन गैस वातावरण में केवल कुछ



वर्षों तक ही बनी रहती है। अतएव वैश्विक तापमान वृद्धि से निपटने के लिए बजाए कार्बनडाईआक्साइड के मीथेन उत्सर्जन में कमी पर तुरंत ध्यान देना आवश्यक है।

लंदन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स की रिपोर्ट बताती है कि जलवायु परिवर्तन के हल हेतु किसी 'हरी तकनीक' में निवेश करने के बजाए गर्भ निरोधकों में निवेश करना पांच गुना सस्ता है। इसे प्रभावशाली बनाने के लिए इसकी शुरुआत उत्तर से करना होगी, क्योंकि अमेरिका के किशोर का कार्बन फुट प्रिंट केन्या के किसान के नंगे पैर कार्बन फुट प्रिंट के मुकाबले 20 गुना भारी होता है। ब्रिटिश वैज्ञानिक जेम्स लव लॉक का अनुमान है कि

इस शताब्दी के अंत तक कार्बन डाईआक्साइड की चपेट में आकर जलवायु विप्लव से करीब 10 अरब लोग अपने प्राण गवां चुके होंगे और इस मुरझाए हुए ग्रह पर मात्र एक अरब लोग बचेंगे। बीती 22 अप्रैल को पृथ्वी दिवस मनाने का सबसे अच्छे तरीकों में एक यह होता कि हम सांस की नियामत को समझें और सब लोग रुक कर गहरी सांस भरें। अब समय आ गया है कि लवलॉक की चेतावनी को ध्यान में रखते हुए हम 'सीखने की प्रक्रिया' प्रारंभ कर दें और हम अपने इस साझा ग्रह पर जीवन को बचाए रखने में अपनी जिम्मेदारी स्वीकारें।

साभार : पीपुल्स समाचार - 27.4.10





## न्याय से जुड़े पर्यावरण की रक्षा

◆ भारत डोगरा

धनी व्यक्तियों के पास क्रयशक्ति बेहद अन्यायपूर्ण हद तक केंद्रित है, अतः बाजार में उनकी गैरजरूरी व विलासिता की वस्तुओं को प्राथमिकता मिलती रहेगी। सीमित प्राकृतिक संसाधनों व कार्बन स्पेस का उपयोग इन गैरजरूरी वस्तुओं के उत्पादन के लिए होगा। गरीब लोगों की जरूरी वस्तुएँ पीछे छूट जाएंगी, उनका अभाव बना रहेगा या और बढ़ जाएगा।

जलवायु बदलाव के दौर में पर्यावरण की रक्षा सबसे बड़ी प्राथमिकता बनता जा रहा है। इसके बावजूद आज भी जलवायु बदलाव जैसे मुद्दे व्यापक जनआंदोलन से जुड़ नहीं सके हैं। जिस समय पर्यावरण आंदोलन की सार्थकता अपने उत्कर्ष पर है, उस समय विश्व स्तर पर उसे वैसा व्यापक जनसमर्थन क्यों नहीं मिल रहा है जिसकी कि उसे बहुत जरूरत है।

इसका कारण यह है कि इसमें न्याय व समता के मुद्दों का उचित ढंग से समावेश नहीं हो पाया है। दुनिया की आधी से अधिक जनसंख्या अपनी बुनियादी जरूरतों को भी ठीक से पूरा नहीं कर पाती है। उससे बार-बार यह कहना कि पेट्रोल व गैस के उपयोग को कम करना है या विशेष तरह के उत्पादों के उपयोग को घटाना है, एक तरह से अर्थहीन है क्योंकि वे तो रोटी, कपड़ा, मकान आदि की बुनियादी जरूरतों को भी ठीक से पूरा नहीं कर पा रहे हैं। पर्यावरण रक्षा की वह जलवायु बदलाव की इस पूरी बहस में उनके लिए क्या है? यह सच है कि जलवायु बदलाव का

संकट उग्र होने पर सबसे अधिक कष्ट गरीब लोगों के लिए बढ़ेगा, क्योंकि प्रतिकूल मौसम व आपदाओं से रक्षा की सबसे कम तैयारी उनके पास है। पर निर्धन वर्ग की सबसे जरूरी समस्या जो आँखों के ठीक सामने है वह यह है कि आज की विषमता व अन्याय आधारित व्यवस्था में वे अपनी बुनियादी जरूरतों की पूर्ति में भी असमर्थ हैं।

वैसे पर्यावरण आंदोलन को मजबूत करने के लिए पहले भी कई अन्य संदर्भों में यह कहा गया है कि पर्यावरण की रक्षा के साथ न्याय व जनअधिकारों को जोड़ा जाए। उदाहरण के लिये यह कई बार कहा गया है कि वनों की रक्षा की माँग के साथ लघु वन-उपज पर आदिवासियों के हकों की माँग को जोड़ा जाए। अब जलवायु बदलाव की समस्या पर्यावरण की सबसे बड़ी समस्या के रूप में उभर रही है तो इसके समाधान में भी न्याय व समता के मुद्दों का ऐसा समावेश जरूरी है जिससे दुनिया के करोड़ों लोग इस समस्या के समाधान से जुड़ सकें।

समाधान ऐसा होना चाहिए जो इन्हें गरीबी व अभाव से भी राहत दिलाए। ऐसे समाधान को ही व्यापक जनसमर्थन मिल सकेगा। पर्यावरण रक्षा को न्याय से जोड़ने की व्यावहारिक अभिव्यक्ति हमें जलवायु बदलाव की सबसे गंभीर समस्या के संदर्भ में तलाशनी है। यह एक बहुत जरूरी कार्य है जिसमें अब जरा भी देर नहीं होनी चाहिए। पहले ही बहुत देर हो चुकी है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने का सबसे असरदार तरीका यह है कि विश्व स्तर पर ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में पर्याप्त कमी उचित समय-अवधि में लाए जाने की ऐसी योजना बनाई जाए जो सभी लोगों की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने से जुड़ी हो। फिर इस योजना को कार्यान्वित करने की दिशा में तेजी से आगे बढ़ा जाए। यदि इस तरह की योजना पर कार्य होगा तो ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन में कमी के जरूरी लक्ष्य के साथ-साथ



करोड़ों अभावग्रस्त लोगों की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने का लक्ष्य अनिवार्य तौर पर जुड़ जाएगा। इससे इस योजना के लिए करोड़ों लोगों का उत्साहवर्धक समर्थन प्राप्त हो सकेगा।

ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को कम करने के लिए कुछ हद तक हम फॉसिल ईंधन के स्थान पर अक्षय ऊर्जा (जैसे सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा) का उपयोग कर सकते हैं, पर केवल इतना पर्याप्त नहीं है। विलासिता व गैर-जरूरी उपभोग कम करना भी जरूरी है। यह तो बहुत समय से कहा जा रहा है कि विभिन्न प्राकृतिक संसाधनों का दोहन बहुत सावधानी से होना चाहिए व वनों, चरागाहों, कृषिभूमि व खनिज-भंडारों का उपयोग करते हुए इस बात का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए कि पर्यावरण की क्षति न हो या उस क्षति को न्यूनतम किया जाए। जलवायु बदलाव के दौर में अब नई बात यह भी जुड़ी है कि विभिन्न उत्पादन कार्यों के लिए कितना कार्बन स्थान या स्पेस उपलब्ध है, इसे भी ध्यान में रखना जरूरी है।

जब हम इन नई-पुरानी सीमाओं के बीच दुनिया के सब लोगों की जरूरतों को पूरा करने की योजना बनाते हैं तो स्पष्ट है कि वर्तमान अभाव की स्थिति को देखते हुए करोड़ों गरीब लोगों के लिए पौष्टिक भोजन, वस्त्र, आवास, दवाओं, कॉपी-किताब आदि का उत्पादन भी बढ़ाना होगा। इस उत्पादन को बढ़ाने में हम इस तरह पूरा प्रयास कर सकते हैं कि ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को कम करने वाली तकनीकों का उपयोग हो पर यह एक सीमा तक ही संभव होगा। विलासिता की वस्तुओं व गैर-जरूरी वस्तुओं का उत्पादन भी कम किया जाए। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

यदि गरीब लोगों के लिए जरूरी उत्पादन को प्राथमिकता देने वाला नियोजन न किया गया तो फिर विश्व स्तर पर बाजार की माँग के अनुकूल ही उत्पादन होता

रहेगा। विषमाग्रस्त वर्तमान समाज में विश्व के धनी व्यक्तियों के पास क्रयशक्ति बेहद अन्यायपूर्ण हद तक केंद्रित है, अतः बाजार में उनकी गैर-जरूरी व विलासिता की वस्तुओं को प्राथमिकता मिलती रहेगी। सीमित प्राकृतिक संसाधनों व कार्बन स्पेस का उपयोग इन गैर जरूरी वस्तुओं के उत्पादन के लिए होगा। गरीब लोगों की जरूरी वस्तुएँ पीछे छूट जाएँगी, उनका अभाव बना रहेगा या ओर बढ़ जाएगा। अतः यह बहुत जरूरी है कि ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को कम करने की योजना से विश्व के सभी लोगों की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने की योजना को जोड़ दिया जाए व उपलब्ध कार्बन स्पेस में बुनियादी जरूरतों को प्राथमिकता देना एक अनिवार्यता बना दिया जाए।

इस योजना के तहत जब गैर-जरूरी उत्पादों को प्राथमिकता से हटाया जाएगा तो यह जरूरी है कि सब तरह के हथियारों के उत्पादन में बहुत कमी लाई जाएगी। मनुष्य व अन्य जीवों की भलाई की दृष्टि से हथियार न केवल सबसे अधिक गैर-जरूरी हैं अपितु सबसे अधिक हानिकारक भी हैं। इसी तरह अनेक हानिकारक उत्पाद हैं (शराब, सिगरेट और कुछ बेहद खतरनाक रसायन आदि) जिनके उत्पादन को कम करना जरूरी है।

इन हानिकारक उत्पादों व विशेषकर हथियारों के उत्पादन को कम करने में अनेक पेंचीदगियाँ हैं, अनेक कठिनाइयाँ व बाधाएँ हैं। पर ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को कम करने की अनिवार्यता के दौर में इन उत्पादों को न्यूनतम करने का औचित्य पहले से कहीं अधिक मजबूत हो गया है। इस तरह की योजना पर्यावरण आंदोलन को न्याय व समता आंदोलन के नजदीक लाती है व साथ ही इनदोनों आंदोलनों को शांति आंदोलन के नजदीक लाती है। ये तीनों सरोकार एक होंगे तो दुनिया की भलाई के कई महत्वपूर्ण कार्य आगे बढ़ेंगे।

साभार : नवदुनिया - 10.2.10





## पंचायती राज में स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिका

◆ राजू कुमार

इस साल देश के विभिन्न राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव होने वाले हैं। सबसे पहले मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ में पंचायतों के चुनाव जनवरी में हो गए। इन दोनों ही राज्यों को 73 वें संविधान संशोधन के बाद सबसे पहले पंचायत चुनाव कराने का श्रेय हासिल है, तब छत्तीसगढ़ भी मध्यप्रदेश का ही भाग था। पंचायती राज संस्थाएं यानी ग्राम पंचायत, जनपद पंचायत एवं जिला पंचायत के चुनाव एवं उनके कार्य दोनों ही स्वयंसेवी संस्थाओं के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। सरकार द्वारा ग्रामीण विकास के लिए किए जा रहे अधिकांश कार्य पंचायतों के माध्यम से होते हैं और स्वयंसेवी संस्थाएं भी ग्रामीण एवं सामाजिक विकास का ही काम करती हैं।

इस तरह देखा जाए, तो एक सशक्त पंचायती राज व्यवस्था में न केवल विकास की गति तेज होती है, बल्कि संगठनों एवं संस्थाओं के लिए अनुकूल वातावरण मिलता है। मध्यप्रदेश चौथे पंचायत चुनाव एवं छत्तीसगढ़ में दूसरे पंचायत चुनाव की प्रक्रिया संपन्न के बाद अब निर्वाचित प्रतिनिधि पदभार ग्रहण कर रहे हैं। चुनाव में सामाजिक रूप से वंचित तबके के भी हजारों प्रतिनिधि चुनाव में जीत हासिल किए हैं, पर इसके बाद उनकी

चुनौतियां खत्म नहीं हुई हैं, बल्कि पद ग्रहण करने के बाद वास्तविक चुनौतियों से उनका सामना होगा। पंचायती राज में पंचायतों का आरक्षण लगातार बदलते रहता है, ऐसे में आरक्षण की प्रक्रियाओं के कारण आधे से ज्यादा निर्वाचित प्रतिनिधि नए होते हैं। इसमें भी निर्वाचित महिलाओं, दलितों एवं आदिवासियों में नए प्रतिनिधियों की संख्या ज्यादा होती है। ऐसे प्रतिनिधियों को पंचायत के कामकाज को लेकर कई उलझनों का सामना करना पड़ता है। सामाजिक दबाव, समाज का असहयोगात्मक रवैया, विरोधियों के अड़ंगे आदि के कारण वे परेशान हो जाते हैं। अधिनियम के तहत अक्षम पाए जाने पर जनप्रतिनिधि को वापस बुलाने का भी प्रावधान इसका एक कारण रहा। ऐसे माहौल में यह जरूरी है कि कमजोर तबके के प्रतिनिधियों की सशक्त करने को काम किया जाए। सरकार अपने स्तर पर उनके प्रशिक्षण का काम करती है, पर इसमें स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिका भी बहुत ही महत्वपूर्ण है।

दलीय आधार पर चुनाव नहीं होने के कारण इसमें स्वयंसेवी संस्थाओं एवं जनसंगठनों की भूमिका बहुत बढ़ जाती है। उनकी सक्रियता के कारण ही अनारक्षित सीटों से भी वंचित तबके लोग चुनाव जीत कर लोकतंत्र में सहभागी बन ग्राम स्वराज के सपने को साकार करने में लगे हुए हैं। पर सामान्य तौर पर देखने में यह आया है, कि चुनाव के बाद जिस तरह से राजनीतिक दल निष्क्रिय हो जाते हैं, उसी तरह से स्वयंसेवी संस्थाओं एवं जनसंगठनों में भी सक्रियता नहीं रह जाती। कुछ ऐसी संस्थाएं हैं, जो पंचायती राज पर ही काम कर रही हैं, वे ही सक्रिय रहती हैं, पर चुनाव पूर्व संस्थाओं की सक्रियता से ज्यादा चुनाव बाद की सक्रियता की जरूरत है।



पंचायत के मुद्दे पर कार्यरत कई संस्थाओं ने दोनों ही प्रदेशों में स्वशासन अभियान चलाया। इसमें उन्हें कई जगह सफलता भी मिली और उनके प्रयासों से वंचित तबकों में से कई ऐसे प्रतिनिधि चुनकर आए हैं, जिन्होंने सत्ता में आने के बारे कभी सोचा भी नहीं था। पर ऐसे लोगों की सत्ता में भागीदारी ज्यादा नहीं हो सके, इसके लिए समाज के संपन्न एवं राजनीतिक रूप से संशक्त वर्ग द्वारा कई भ्रम फैलाए गए। स्वयंसेवी संस्थाएं वंचित तबके को प्रशिक्षित भी करती हैं और सहयोग भी करती हैं।

कई महिला संगठनों एवं महिलाओं के लिए कार्यरत संस्थाओं ने महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए जिलों में महिलाओं के सम्मेलन किए। महिलाओं को चुनाव लड़ने के लिए आगे करने में समाज अभी भी सहयोग नहीं करता, इसलिए आदिवासी एवं दलित समुदाय की महिलाओं को चुनाव लड़ने के लिए प्रेरित करना और सहयोग करना बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था। ग्रामीण विकास और गरीबों तक योजनाओं का लाभ पहुंचाने के लिए पंचायत चुनाव में सही लोगों का चुना जाना बहुत ही महत्वपूर्ण है, और इस काम में संस्थाओं ने अपने स्तर पर प्रयास किए। जिन स्थानों संस्थाओं ने पहल की, वहां अनारक्षित सीटों पर दलित और महिलाएं बड़ी संख्या में उम्मीदवार बन सके। कई जगहों पर संस्थाओं की पहल से ग्रामीणों ने जनघोषणापत्र भी जारी किए। वहां तक कि ग्रामीणों ने उम्मीदवारों से सवाल-जवाब भी किए। उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में दबंग एवं भ्रष्ट उम्मीदवारों को हराने एवं पंचायत चुनाव में बड़े पैमाने पर बंटने वाले शराब और पैसे के खिलाफ

अभियान चलाया। सभी संगठनों एवं संस्थाओं ने अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में पंचायत चुनाव को लेकर गंभीरता दिखाई।

संस्थाओं एवं जनसंगठनों ने अपने-अपने तरीके से पंचायत चुनाव प्रक्रिया को मजबूती देने, दलितों, आदिवासियों एवं महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी बढ़ाने और चुनाव सुधार के लिए पिछले छह महीने में जो सक्रियता दिखाई, यदि वह आगे नहीं रही, तो सुदृढ़ एवं सशक्त ग्राम स्वराज का सपना साकार नहीं हो पाएगा। स्वयंसेवी संस्थाओं एवं जनसंगठनों के लिए अब यह जरूरी है, कि इन निर्वाचित जनप्रतिनिधियों के लिए प्रशिक्षण, सहयोग एवं उन्मुखीकरण के लिए कार्यक्रम आयोजित करें। इसके लिए जिन बातों को लेकर उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र के मतदाताओं को जागरूक किया था, उनके साथ मिलकर पंचायतों के विकास में सहयोगात्मक भूमिका निभाएं।

यह सर्वविदित है, कि अधिकांश संस्थाओं को ग्रामीण विकास में योगदान के लिए ही अनुदान मिलता है, ऐसे में पंचायत एवं पंचायत प्रतिनिधियों से परे कैसे कोई काम हो सकता है। महिलाओं, दलितों, एवं आदिवासियों के अधिकारों एवं उनकी राजनीतिक सशक्ति के लिए संस्थाओं को आगे आना होगा। पंचायत के संसाधनों के बेहतर उपयोग और ग्राम स्वराज के सपने को साकार करनेके लिए भी यह जरूरी है, कि निर्वाचित जनप्रतिनिधियों के कौशल विकास एवं पारदर्शी पंचायत व्यवस्था के लिए संस्थाएं काम करें।

साभार : देशबन्धु - 11.3.10





## भारतीय न्याय व्यवस्था में आवश्यकता है बड़े बदलाव की धीमी चलती अदालतें

◆ किशन माहेश्वरी

भारतीय न्याय व्यवस्था धीमे चलती है। पुलिस वालों के सेल नम्बर अपराधियों के पास होते हैं, लेकिन अदालती कागजों में दर्ज नहीं होते, जिससे मामले की गति धीमी रहती है।

भारत के न्यायालय सदैव इस बात के लिए सुखियों में रहे हैं कि यहां मुकदमों का त्वरित निष्पादन नहीं होता है। यथासमय न्यायालय में मुकदमों का निष्पादन नहीं होना और भी अन्य अपराधों का अंबार खड़ा कर देता है। अदालतों के प्रति आम जनता में अपेक्षित आस्था का अभाव है। लोग न्यायालय में न्याय पाने के लिए मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा तथा अन्य धार्मिक स्थलों पर दस्तक देते हैं और सविनय निवेदन करते हैं कि भगवान न्यायिक पदाधिकारियों को सद्बुद्धि दे, ताकि उनके पक्ष में निष्पक्ष न्यायिक निर्णय आ सके। न्यायालय में न्यायिक निर्णय की विलंबता में भारत वर्ष की केंद्र और राज्य सरकारों के अधिकारी और कर्मचारी भी अहम भूमिका निभाते हैं। प्रसिद्ध तीर्थ स्थल सोमनाथ के मंदिर को लूटने में जिस तरह गजनवी ने भूमिका निभाई थी, उसी तरह हर भारतीय के धनकोष को लूटने की भूमिका निभाने में सरकारी प्रशासनिक और पुलिस पदाधिकारी वर्षों से पंक्तिबद्ध होकर मुस्तैदी से खड़े हैं।

अपराधियों से पैसे खाकर सरकारी मुलाजिम कुंभकर्णी नींद में सो जाते हैं। अधिकारी द्वारा यथासमय

न्यायालय में साक्ष्य प्रस्तुत करना या नहीं करना रिश्वत ग्राफ की उठती-गिरती लाइन पर निर्भर करता है। केस में फंसा हुआ व्यक्ति न्यायालय में जल्द से जल्द न्याय चाहता है, किंतु अंग्रेजों के बनाए कानून और न्यायिक प्रक्रिया के मकड़जाल से वह निकल नहीं पाता है। स्वतंत्रता पाने के बाद भी सांसदों और विधायकों ने इस न्यायिक प्रक्रिया में संशोधन की तरफ यथोचित ध्यान नहीं दिया है। ऐसा लगता है मानो लूट खसोट की यह प्रक्रिया सभी को जमकर भा रही है। निर्दोष या प्रताड़ित व्यक्ति न्यायालय से यदि जल्द न्याय चाहता है, तो उसे आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकों की सहायता लेनी चाहिए। आज अपराधकर्मियों ओर पुलिसकर्मियों की पॉकेट में मोबाइल फोन घनघनाता रहता है, किंतु न्यायालय की केस संचिका में इनका नंबर नहीं होता है। यदि केस डायरी तथा न्यायिक प्रक्रिया के अन्य कागजातों से इनका नंबर अंकित हो तो मुकदमे का सूचक, गवाह, अभियुक्त, जमानतदार, पुलिस अन्वेषणकर्ता और पक्ष-विपक्ष के अधिवक्ताओं को समय-समय पर सूचित किया जा सकता है तथा साक्ष्यों की प्रस्तुति की सक्रियता बढ़ सकती है, जिसके कारण न्यायिक प्रक्रिया की कार्रवाई और निष्पादन में तेजी आ सकती है

आज इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान स्वरूप में मोबाइल या टेलीफोन के बिना प्रशासन ओर अपराधियों का कार्य गतिशील नहीं हो सकता। अपराधी अपने-पराये से मोबाइल और दूरभाष से संपर्क साधता है, इससे उसकी गतिविधियां परिलक्षित होती रहती हैं। मुकदमे से संबंधित व्यक्तियों के दूरभाष या मोबाइल नंबर न्यायालयों की संचिका में संलग्न रहने से



गवाही या गिरफ्तारी की प्रक्रिया में जल्द कदम उठाए जा सकते हैं। इस प्रक्रिया में पुलिस विभाग को अहम भूमिका निभानी चाहिए, जिससे अपराधों पर अंकुश लग सके। न्यायिक प्रक्रिया की यह पहल भी विचारणीय है कि जब न्यायालय अभियुक्त पर आरोप गठित करता है, उस समय अभियुक्त की उपस्थिति तो अनिवार्य है, किंतु अभियोगी की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है।

इस प्रक्रिया से मानो ऐसा लगता है कि अभियोगी की जिम्मेदारी खत्म हो गई, अब न्यायालय ही सभी जिम्मेदारियों का वहन करेगा। प्रत्येक तिथि पर अभियोगी की उपस्थिति नहीं होने पर अक्सर यह देखा जाता है कि सरकारी वकील गवाही दिलाने में मनमानी करते हैं, जिससे मुकदमा अवांछित रूप से लंबा खींचा जाता है गवाही नहीं दिलाने के क्रम में सरकारी वकील अभियुक्त से काफी मोटी रकम ऐंठता रहता है और मुफ्त में अदालत बटनाम हो जाती है। लोग कहने लगते हैं अदालत द्वारा

केस लंबा खींचा जा रहा है। यदि देखा जाए तो गवाही की पूरी प्रक्रिया में सरकारी वकील अभियोगी द्वारा गवाही की विलंबता का कारण व्यक्त नहीं करता है।

अक्सर अभियुक्त उच्च न्यायालय में याचिका दाखिल कर मांग करता है कि उसका मुकदमा संबंधित अदालत द्वारा अवांछित रूप से लंबा खींचा जा रहा है। इस प्रकार की याचिका पर साक्ष्यों की प्रस्तुति व सत्यापन में माननीय उच्च न्यायालय अभियोगी को दंडित नहीं करता। यह सर्वविदित है कि अदालतों के खिलाफ आरोप लगाना न्यायालय की अवमानना करना है किंतु, स्वतंत्र भारत की सभी अदालतें अंग्रेजी की नीतियों के आधार पर आज भी चल रही हैं। इन अदालतों में न्यायिक प्रक्रिया में परिवर्तन कब होगा और कब यह वाणी न्यायिक पदाधिकारियों के हृदय से स्वतः प्रस्फुटित होगी- 'न्याय ममः धर्म।'

साभार : पीपुल्स समाचार 27.4.10





## मजदूरों का बंधुआ बनना जारी है

◆ देवाशीष प्रसून

बंधुआ मजदूरी के चक्कर में फंसने वाले अधिकतम लोग या तो आदिवासी होते हैं या दलित। आदिवासियों का बंधुआ बनने का कारण उन्हें पारंपरिक आजीविका से महरूम करना है।

**अ** अगर सरकार से पूछा जाए कि क्या अब भी हमारे देश में मजदूरी को बंधुआ बनाया जा रहा है, तो शायद एक-टूक जबाब मिले-नहीं, बिल्कुल नहीं। सरकारें अपने श्रम मंत्रालयों के वार्षिक रपटों के जरिए हमेशा ऐसा ही कहती हैं। सन् 1975 से देश में बंधुआ मजदूरी के उन्मूलन का कानून लागू है। इस कानून के लागू होने के बाद से सरकारों ने अपने सतत् प्रयासों के जरिए बंधुआ मजदूरी की व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंका है, सरकारी सूत्रों से बस इस तरह के दावे ही किए जाते हैं। हालांकि, हकीकत इसके बरअक्स कुछ और ही है।

लेकिन बीते दिनों, बीस राज्यों व केंद्र शासित प्रदेशों के कई शहरों में हुए एक सर्वेक्षण आधारित अध्ययन ने देश में बंधुआ मजदूरी के मामले में सरकारी दावों की पोल खोल दी है। असंगठित क्षेत्रों के कामगारों के लिए बनाई गई राष्ट्रीय अभियान समिति की अगुवाई में मजदूरों के लिए काम कर रहे कई मजदूर संगठनों व गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा किए गए इस राष्ट्रव्यापी अध्ययन से पता चलता है कि देश में बंधुआ मजदूरी अब तक बरकरार है। कहीं-कहीं तो सरकारी या सार्वजनिक स्तर पर उदाहरण के लिए बंधुआ मजदूरी का एक स्वरूप तमिलनाडु में सरकार के प्रोत्साहन से चल रहा है। बंधुआ मजदूरी का यह भयंकर

कुचक्र सुमंगली थित्तम नाम की योजना के तहत चलाया जाता है। इस योजना को मंगल्या थित्तम के नामों से भी जाना जाता है। इसके तहत 17 साल या कम उम्र की किशोरियों के साथ यह करार किया जाता है कि वह अगले तीन साल के लिए किसी कताई मिल में काम करेगी और करार की अवधि खत्म होने पर उन्हें एकमुश्त तीस हजार रुपए दिए जायेंगे, जिस राशि को वह अपनी शादी में खर्च कर सकती हैं। तमिलनाडु के 913 कपास मिलों में 37000 किशोरियों का इस योजना के तहत बंधुआ होने का अंदाजा लगाया गया है। आश्चर्य की बात यह है कि करार के अवधि के दौरान अगर कोई मुक्त होना चाहे तो उसके द्वारा की गयी अब तक की पूरी कमाई को मिल प्रबंधन हड़प कर लेता है।

बंधुआ मजदूरी के चक्कर में फंसने वाले अधिकतम लोग या तो आदिवासी होते हैं या दलित। आदिवासियों का बंधुआ बनने का कारण उनको पारंपरिक आजीविका से महरूम करना है। तमिलनाडु की एक जनजाति है इरुला। ये लोग पारंपरिक रूप से सपेरे रहे हैं, लेकिन सांप पकड़ने पर कानूनन प्रतिबंध लगने के बाद से कर्ज के बोझ तले दबे इस जनजाति के लोगों को बंधुआ की तरह काम करने के लिए अभिशप्त होना पड़ा है। चावल मिलों, ईट-भट्टों और खदानों में काम करने वाली इस जनजाति को हर तरह के अत्याचारों को चुपचाप सहना पड़ता है। उन लोगों ने विरोध दर्ज किया तो एक सक्षम अधिकारी ने कर्ज कम करवाने के आश्वासन के साथ वापस काम पर जाने को कहा।

बंधुआ मजदूर के पूरे मामले में एक बहुत बड़ा कारण आजीविका के लिए अन्य विकल्पों और अवसरों का उपलब्ध नहीं होना है। साथ ही, अब तक जो हालात दिखे हैं, उनके आधार पर सरकारी लालफीताशाही के मंशा पर भी कोई भरोसा नहीं किया जा सकता है।

साभार : नवदुनिया - 29.4.10



## यातना के खिलाफ बनें कानून

◆ प्रतिक्रिया : प्रकाश सिंह

केन्द्रीय मंत्रिमंडल द्वारा यातना रोकथाम विधेयक को संसद में पेश करने की मंजूरी देना सही दिशा में उठाया गया कदम है। विधेयक के पारित होने और कानून बनने के बाद पुलिस हिरासत में आरोपियों को यातना देना और किसी रूप में प्रताड़ित करना गैरकानूनी और अपराध होगा। दरअसल, पुलिस कस्टडी में किए गए प्रत्येक अमानवीय आचरण के लिए दोषियों को सजा की व्यवस्था होनी ही चाहिए। इससे न सिर्फ पुलिस के खौफनाक होते चरित्र पर लगाम लगे, बल्कि आम लोगों में विश्वास जागे कि रक्षक से भक्षक बने हर पुलिस वाले पर कानून की सख्त निगाहें हैं, हालांकि यह कदम काफी देर से उठ रहा है। संयुक्त राष्ट्र ने 1975 में ही हिरासत में यातनाओं के खिलाफ घोषणापत्र पारित किया था। खैर, देर से ही सही, सरकार के ताजा कदम की तारीफ करनी चाहिए।

आमतौर पर देखा जाता है कि पुलिस अधिकारी अपराधियों से जानकारी उगलवाने के लिए ऐसा व्यवहार करते हैं जो मानवीय दायरे में नहीं आता और ऐसा करना मानवाधिकार का उल्लंघन माना जाता है। जांच एजेंसियों द्वारा थर्ड डिग्री का इस्तेमाल एक क्रूर सचाई है। कुछ महीने पहले हिरासत में हुई एक मौत के मामले में एक पूर्व एसीपी को न्यायालय ने मौत की सजा सुनाई थी। उस फैसले के बाद आमजनों में संदेश गया था कि पुलिस की गलती पर भी न्यायालय की सख्त नजर है। ताजा प्रकरण से भी ऐसा ही संदेश आमजनों के बीच जाएगा और वे पुलिस की गलती के बाद और खुलकर सामने आएंगे। अगर 'यातना रोकथाम विधेयक' कानून की शकल लेता है तो इससे पुलिस की सोच में बदलाव आए न आए, उन्हें कानून का भय तो होगा ही। मीडिया सक्रियता और आमजनों की जागरूकता से वैसे भी पुलिस अब पहले की तुलना में हिरासत में

यातना कम देती है लेकिन उसके तौर-तरीके में आज भी काफी सुधार की जरूरत है।

लंबी व गहन प्रक्रियायुक्त अपराध की केस स्टडी करने पर वे कम ध्यान देती हैं। इसकी जगह जोर-जबरदस्ती से अपराध कबूलवाना और सर्विस नियमों के विपरीत आचरण करना उन्हें आसान लगता है। आज पुलिस से कानून के रखवाले के साथ-साथ एक समाज सुधारक की भी भूमिका निभानी की उम्मीद की जा रही है। उन्हें अकारण किसी के दबाव में आने और व्यर्थ में किसी को दबाने से भी बचना होगा। राष्ट्रीय पुलिस आयोग, राज्य पुलिस आयोग एवं अन्य सुधार आयोगों की रिपोर्टों पर गौर किया जाए। नियुक्ति पूर्व पुलिस के मनोवैज्ञानिक परीक्षण की गंभीरता से लिया जाए। समय-समय पर पुलिसकर्मियों के कार्य और व्यवहार का विभाग द्वारा मूल्यांकन किया जाना चाहिए। कांस्टेबलों में सुधार की सर्वाधिक जरूरत है, क्यों वे पुलिस व्यवस्था की धुरी हैं वे जनता के सबसे निकट हैं इसलिए उनका स्तर सुधारना सबसे जरूरी है। शासन व पुलिस प्रशासन की भी जिम्मेदारी है कि वे पुलिस को मनोविज्ञान की विधियां ग्रहण करने की, उन्हें आचरण में उतारने की योग्यता और क्षमता से लैस करने की व्यवस्था करें। उन्हें लोकतांत्रिक मूल्यों के पक्ष में ढालने के गंभीर प्रयास होने चाहिए। केवल कानून बनने से ओर थाने में मानवाधिकारों की रक्षा के निर्देश चस्पा करने से बात नहीं बनेगी। एक बात और जो शायद अत्यंत जरूरी है, वह यह कि न्याय की प्रक्रिया में सुधार हो। न्याय प्रक्रिया लंबी खिंचने से आम लोग ही नहीं, पुलिसवाले भी हतोत्साहित होते हैं।

(श्री सिंह उत्तर प्रदेश के पूर्व पुलिस महानिदेशक रहे हैं)

प्रस्तुति : प्रवीण कुमार

साभार : राष्ट्रीय सहारा, 19.4.10

